VOL. IV PART-III JUNE 1998

JOTI JOURNAL

न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान

उच्च न्यायालय जबलपुर 482007

JUDICIAL OFFICERS' TRAINING INSTITUTE

HIGH COURT OF MADHYA PRADESH

JABALPUR-482007

☎ 325995

संपादकीय

नया क्षितिज

दोस्तों

आओ अब तक हम आपने अपनी कार्यशैली, कैसे कार्य करना है, किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों के प्रति सबल सजग रहकर न्यायदान का पवित्र कार्य करना है इस पर पिछलें अंको में विचार मंथन किया।

अब हमारा ग्रीष्म अवकाश प्रारंभ हो रहा है। आईये इस अवकाश का स्वागत करें इसका लाभ हम केवल अपने लिये, अपने परिवार प्रियजनों के लिये लें। जैसे अपना कार्य अपनी जीविका अपने लिये महत्वपूर्ण है उतना ही महत्वपूर्ण है हमारा स्वयं का, परिवार प्रियजनों के प्रति हमारा कर्त्तव्य। सर्वप्रथम स्वयं को देखिये। आपको अब वास्तव में कुछ क्षण, कुछ दिन अपने मन मर्जी के अनुसार बिताना है।

अपने ग्रीष्म अवकाश का उपयोग इस प्रकार करिये कि जब अपने अवकाश से अपने कार्यस्थल पर वापस आयें तो एक नयी उमंग नये उत्साह से हम आप अपना न्यायदान का कार्य और भी अच्छी तरह से प्रेम व शांति से कर सकें क्योंकि आप न्यायाधीश हैं। अपनी नौकरी साधारण सेवा कार्य नहीं है अपितु उसके साथ न्यायदान, न्याय सेवा जैसा पवित्र कार्य है जो साधारण सरकारी सेवा से सर्वथा अलग है। पीड़ित अशक्त के अधिकारों की रक्षा करना एवं बलशाली–अत्याचारी अपराधी को विधि अनुसार दंडित करना है।

हम आपने कभी अपने परिजनों के साथ या अकेले ही सुबह का उगता सूरज, शाम का विसर्जित होता सूरज, पूनम का चांद, अमावस के अंधेरे को ध्यान से देखा है? कभी कोई सुंदर सा गाना सुना है जो दिनभर गुनगुनाने को जी चाहे? कभी प्रकृति की इस अनुपम सुंदरता को भी देखिये। नदी किनारा, समुद्रतट झरना किसी बगीचे में ही जाकर देखिये बाहर कितनी सतरंगी छटा हमारी प्रकृति ने हमारे लिये मुक्त हस्त से सजा रखी है जो बिलकुल मुफ्त है लेकिन उसका महत्व अनमोल है।

प्राकृतिक सुंदरता देखने के लिये किसी पहाड़ी स्थल या समुद्र तट पर ही पर्यटन के लिये जाने की आवश्यकता नहीं है, न ही अपनी आर्थिक हानि करने की आवश्यकता है अपितु प्रकृति की सुंदरता तो हमारे आसपास बिखरी पड़ी है। आवश्यकता है उसको देखने की उसके सौन्दर्य को, फूलों की खुशबू सुगंध को अनुभव करने की। कुछ नहीं तो अपने पड़ौस के ही किसी बगीचे, नदी किनारे पर चले जाईये फिर देखिये की हम दिन भर कितने उत्साही आनंदी रहते है। ईश्वर ने ये प्राकृतिक

सौंदर्य बनाया ही इतना सुंदर है जो सहज, सरल, सुंदर सत्य है उसे वैज्ञानिक, जादूगर, तांत्रिक, मांत्रिक हम आप नहीं बना सकते यह ईश्वर का हमारे लिये अनमोल उपहार है उसका आनंद लें इसके लिये अपना पैसा धेला खर्च नहीं होना है। आईये इस प्रकृति के अनमोल कोश–खजाने को एक नये दृष्टिकोण से देखें। हमें विश्वास है कि आपका दृष्टिकोण अपने प्रति, अपने प्रियजनों के प्रति अपने कर्त्तव्य के प्रति आपको एक नया विचार नया संतोष, आनंद देगा।

अच्छा दोस्तों तो हम अब ग्रीष्म अवकाश के बाद जब मिलेंगे तो नये परिवर्तन, नये मित्रों के साथ मिलेगें। हम आप में से बहुत से न्यायाधीशों को स्थानांतर पर नई जगह नये स्थान, मनचाहे, अनचाहे स्थानों पर अपने कार्यस्थल पर जाकर कार्य करना है। कार्य वही है, उसी निष्ठा व सेवाभाव से हमें अपना कार्य करना है चाहे घर से परिवार से दूर रहे या पास। हम जानते हैं सबकी अपनी कुछ परेशानियां हैं कुछ मजबूरियां है और हमेशा हमें अपनी मन चाही जगह नहीं मिलने वाली है लेकिन जो भी छोटी–छोटी खुशियां हैं का भी आनंद लेना सीखें। कल के पीछे आज की प्रसन्नता, खुशी को उपेक्षित न करें। जो गांव नगर शहर मिले वहां खुशी से रहने का स्वभाव बनाईये कुछ दिनों बाद सबकुछ अच्छा लगने लगेगा। खुश रहने का अभ्यास करना होगा। परिवर्तन तो जीवन का सरल नियम है शुरू में स्वीकार करने में परेशानी होती है फिर जीवन की सामान्य प्रक्रिया हो जाती है। आवश्यकता है थोड़ी सहनशीलता, समझदारी की। अंत में जीत हमारे साथ है क्योंकि परिवर्तन के कारण ही तो हमारे बहुत से व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2 से कार्य शुरू करके सर्वोच्च या उच्च न्यायालय के पदों पर पहुंच चुके हैं। आज परेशानी है, कम साधन है, कल सब कुछ इतना मिलेगा कि पिछली परेशानी की चुभन याद तो रहेगी लेकिन जो प्रतिष्ठा सुख–सुविधा मिलेगी वह बहुत मधुर भी होगी। ईश्वर सबको भाग्य कार्य व समय के अनुसार देता है वह सबके साथ समान रूप से न्याय करता है उसके यहां देर है अंधेर नहीं है। अपनी बारी का इंतजार कीजिये।

अंत में एक बात और। अब तो हम–आपको वेतन भत्ते इतने तो मिलते हैं कि हम शान से इज्जत से प्रतिष्ठा से जी सकते हैं। तो दोस्तो जाईये अपने अपनों के पास और इस बार सच्चे अवकाश का आनंद साथ लेकर लौटे। इस आशा के साथ उत्साह के साथ कि हम होंगे कामयाब एक दिन इतना है विश्वास, मन में है विश्वास, हम होंगे कामयाब एक दिन। फिर मिलेंगे एक नयी सुबह के साथ आगत का स्वागत करने। शुभकामनाओं सहित,

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

निष्पक्षता अक्षुण्य रखो!

1997 के चयनित व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2 के नवनियुक्त न्यायिक अधिकारीगणों के चतुर्थ दल का प्रशिक्षण दिनांक 04-5-1998 से प्रारंभ हुआ। यह सत्र दिनांक 18-5-1998 तक के लिये है। इसमें दस प्रशिक्षु अधिकारी सम्मिलत हैं जिनकी कुछ दिन पूर्व नियुक्ति हुई है। इसके पूर्व 74 चयनित व नियुक्त न्यायिक अधिकारीगणों के दो–दो प्रशिक्षण सत्र पूर्ण हो चुके थे।

दिनांक 05-5-1998 को उक्त प्रशिक्षु न्यायिक अधिकारीगणों को संबोधित व मार्गदर्शित करने हेतु तेजास्विता पूर्ण उपस्थिति माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्रीमान ए.के. माथुर साहेब की रही। उन्होंने चिर परिचित गरिमामयी व प्रभावशाली शैली में न्यायिक अधिकारीगणों का आव्हान किया व कहा कि न्यायिक अधिकारी वह है जो निश्चय पर अटल एवं अडिग रहता है। उसे कोई भी षड्रिपु (काम, क्रोध, राग, लोभ, मद, मत्सर) विचलित नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जीवन में सफल न्यायाधीश के रूप में आकार लेते हुये आगे बढ़ता है। आप ने अपने प्रभावशाली माध्यम से विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि ऐसा व्यक्ति जो ईमानदार नहीं है, निष्ठावान नहीं है, कार्य के प्रति समर्पित नहीं है तो वह न्यायपालिका के लिए योग्य नहीं है। ऐसा व्यक्ति भी न्यायपालिका के लिए उपयुक्त व योग्य नहीं है जो बुद्धिमान तो है पर अवगुणों में लिप्त है।

निष्कपटता व सत्यवादिता के विषय पर बल देते हुए माननीय मुख्य न्यायाधिपति महोदय ने यह भी कहा कि इन गुणों का विकास करना होगा। ऐसा विकास तब ही संभव होगा जब न्यायिक अधिकारीगण दृढ़ निश्चय से कार्य करने की शपथ लेंगे व किसी भी प्रकार अनुचित कृत्यों के प्रति मोह में नहीं फसेंगे व ऐसे कृत्यों की शरण में नहीं जायेंगे। निष्पक्षता व न्यायनिष्ठा ही न्यायपालिका का एकमात्र आधार है। थोड़ी सी चूक भी न्यायिक अधिकारी के सेवा पर प्रतिकूल प्रभाव डालने हेतु पर्याप्त है। न्यायिक अधिकारीगणों को संबोधित करते हुए श्रीमान ए.के. माथुर साहेब ने यह बात भी अभिव्यक्त की कि सत्यवादिता न्यायनिष्ठा जैसे गुण अपने आप किसी में उत्पन्न नहीं होते हैं। उसके लिए कठोर

परिश्रम व समान रूप से कठोर निर्णय एवं अटल निर्धार की आवश्यकता है। इसी लिए न्यायिक अधिकारी का कार्य एक तप–तंपस्या के रूप में है। न्यायपालिका की विशेषता का वर्णन करते हुए माननीय मुख्य न्यायधिपति महोदय ने यह भी कहा कि किसी अन्य विभाग की अपेक्षा न्यायालयों में पीठासीन अधिकारीगणों को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है तथा नीर–क्षीर विवेक से निर्णय लेने का अवसर होता है इस लिए उस स्वर्ण अवसर का पूर्ण रूप से दोहन करना होगा व लक्ष की ओर सतत रूप से अग्रसर होना होगा।

उन्होंने इस भ्रम को दूर करते हुए यह भी कहा कि कुछ अधिकारीगण यह अनुभव करते हैं कि उनके अनुचित कार्य इतने गुप्त रूप से होते हैं कि वे प्रकाश में नहीं आएंगे व उच्च न्यायालय के ध्यान में नहीं आएंगे। माननीय महोदय ने यह कहा कि ऐसा कभी भी संभव नहीं है। जो न्यायिक अधिकारी ऐसे अनुचित कार्य कितनी भी गोपनीय रूप से करें उसके मन में जो अपराध बोध है वह स्वयं प्रगट होता है व स्वयं ही अपने अपकृत्यों को प्रकाश में लाने हेतु माध्यम बनना है। श्रीमान माथुर साहेब ने अन्त में यह भी कहा कि इस बात को भूलना नहीं है कि ईश्वर सर्व शक्तिमान है व उसकी दृष्टि सर्वत्र है व उसकी दिव्य दृष्टि सीमा व दृष्टिक्षेत्र अनंत है। अतः किसी भी भ्रम से मुक्त रहते कठोरता पूर्वक दृढ़ निश्चय के साथ न्यायनिष्ठा व समर्पण भाव से कार्य करने हेतु आव्हान किया व कहा कि हर विपरीत स्थिति को, चुनौती को ललकारते हुए अपना प्रत्येक पग आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ाएँ।

●

"Credibility in the functioning of the justice delivery system and the reasonable perception of the affected parties are relevant considerations to ensure the continuance of public confidence in the credibility and impartiality of the judiciary. This is necessary not only for doing justice but also for ensuring that justice is seen to be done."

J.S. Verma, In ***P.K. Ghosh Vs. J.G. Rajput, (1995) 6 SCC 744, 749 para 10***

INAUGURAL ADDRESS DELIVERED BY HON. THE CHIEF JUSTICE AT THE OFFICIAL MEETING OF DISTRICT JUDGES HELD ON 21ST AND 22ND MARCH, 1998

My learned brothers the District Judges and other Senior judicial officers holding equivalent posts.

As you know, the district Judges are Eyes and Ears through which the High Court exercise control and keeps a close supervision over the subordinate judiciary. Your role in the administration of Justice at the grass-root level is undoubtedly pivotal. The High Court is well aware of the onerous nature of your duties as also your problems and difficulties, but all that is expected from you is that you should maintain the highest traditions of integrity and efficiency by discharging your duties honestly and fearlessly.

The purpose of calling this meeting is obviously to point out the difficulties that has been noticed by me and my learned brothers during inspections of District Courts or which have been otherwise brought to our notice.

As you are already aware that, the Supreme Court has given you lot many things with regard to pay and emoluments and other service conditions, now it is for you to rise to the occasion and meet the challenge of mounting arrears in the subordinate courts. It need not be pointed out that delay in disposal defeats the very purpose of justice. No doubt there are several factors which contribute for delay in disposal of cases. However, on your part, you should always strive hard to achieve the goal of speedy disposal. The grant of long and frequent adjournments for filing power, written statements, applications and objections for trial of cases, evidence of witnesses and for cross examinations and or for addressing arguments should be avoided at all cost. You should think and convey this to your subordinate Judges that why the charges and issues are not being framed for several years, long and frequent adjournments are granted, for examination of accused for recording of defence evidence, hearing of arguments and also for delivery of judgements. Non delivery of Judgments and orders within the prescribed period is a matter which may be viewed seriously. I may also point out that most of all the members of subordinate judiciary are very hard working Judges but even then instances have been noticed of such serious irregularities in conducting cases. I am also informed that at some stations, the cross examination of the witness in sessions trial and other trials also, has not been concluded for several years and the witnesses are required to come in Court on several dates of hearing and go back without any further progress in the matter. In no cases the witnesses should go back unexamined. You and your subordinate Judges, should strive hard to put a check on such tactics and reduce the pendency and achieve the goal of speedy disposal.

Needless to stress that the Judge should be prepared for hard work and encourage the Bar to prepare cases well. Tortuous, long and irrelevant cross examination has to be discouraged. You should act without fear or favour. This will include fear of the Bar and fear of anonymous pseudonymous complaints being sent to the High Court. Here, I may also point out that we are not encouraging such anonymous complaints and almost all such complaints are being filed by me. However, you have my assurance that as long as the Judicial officers perform their duties and discharge their functions properly in accordance with law and honestly, they will have full support of the High Court. You will not tolerate misbehaviour from any quarters, be it Bar Staff or the litigant public but at the same time, we shall not indulge in misbehaviour towards any of these sections. Cases of misbehaviour should be reported to the High Court for appropriate action. I may also inform you that lack of integrity and departure from high standards expected from members of judiciary shall never be tolerated.

Success of judicial system requires hard work on the part of Judges as also the staff. Judges should be familiar with the statutory laws and laws laid down by the Supreme Court and High Court. For this, the High Court has already provided working Library to each Judge and provided funds to the tune of Rs. 25,000/- for each Judge for this Library. But such familiarity can be gained only by regular reading of law journals. Arriving at conclusions merely on the basis of one or two stray decisions cited at the Bar may sometime lead to wrong conclusions. Judges should also acquire the capacity to find out the ratio of decisions, and should not depend solely on the decisions cited at the bar and the Judge should keep himself abreast by a regular reading of the decisions of Supreme Court and this High Court.

We have also noticed that there is a marked tendency in judicial officers to avoid taking up civil matters and old cases both civil and criminal. Pendency of cases in our subordinate courts have reached alarming proportion. Still we are not in position to keep pace with the institution of cases and there is a back-log on this count. Of course because of the concentrated efforts of the Judicial Officers, disposal figures in the subordinate courts are increasing from the year 1995. In the year 1996, figures of disposal in the subordinate courts was more than 10 lacks but it has gone down by about 2 lacks in the year 1997. Therefore, hard work is still necessary. You by yourself should try to give maximum disposal and should not only put your subordinates to strict check, but also guide and motivate them properly to given maximum disposal. The number of pending cases of more than 5 years duration is also quite high. The Judges are generally tempted to concentrate on criminal cases because their number is large and disposal is comparatively easy. This tendency should also be curbed. Proper attention may be paid to disposal of civil cases and particularly cases which are more than 5 year old. You should try and impress upon your subordinate judges not to grant frequent adjournments in interim matters for framing of charges, examination of accused, recording of evidence, hearing of arguments etc. at the same time, day to day trial in sessions cases should be insisted upon. You should not tolerate slackness in serving summonses to witnesses both on civil and criminal side. To achieve the objective of serving summons in criminal cases, I have revived the old and defunct

monitoring Cell of which the District Judge is the President and District Magistrate, Superintendent of Police are its members. I have directed the Government to issue directions to all Collectors and Superintendents of Police of the districts to invariably attend such meetings every month and discuss various problems which you are facing in speedy disposal of criminal cases. The Government on its part, has also issued similar directions to all the Collectors and Superintendents of Police of all the districts in the state.

With a view to reduce the pendency of the petty criminal cases, the High Court has appointed Special Magistrates under section 11 of Cr.P.C. to hold their courts on Sundays and other holidays but it has been noticed that sufficient number of cases have not been transferred to such Special Magistrates and they are not in a position to give good disposal. Maximum work should be taken from such Magistrates, otherwise, it will obstruct the very object for which the said courts have been established.

It is necessary that the District Judges should seriously take their supervisory functions and watch the performance of officers under them. It is also necessary to pin-point the instances of corruption among the staff and tackle the same. As per directions of the High Court, you should from time to time, periodically change seats of members of staff and it should be strictly enforced.

Special attention should also be paid to cases of under trial prisoners. A modality must be worked out whereby each officers keep a list of cases of undertrial prisoners and devotes primary attention to disposal of such cases. In our state, large number of under trials are awaiting disposal of cases for the last 3/4 years. I have also issued directions to dispose of cases of all such under trials awaiting disposal for last more than 3 years. Slackness on the part of any subordinate Judge on this count, should invariably be reported to the High Court.

With a view to achieve objective of speedy disposal, we had introduced Pilot Project Scheme in 4 districts i.e. Ratlam, Seoni, Guna and Rajnandgaon in November, 1994. Launching of this Pilot Project Scheme has given very good results and because of this, reason, this scheme has again been introduced in other four districts i.e. Shahdol, Sagar, Dhar, Bilaspur. The Judges who have worked and are still working in these Pilot Project districts have worked hard and extended their full co-operation in the success of the scheme. However, I have also noticed that in some districts, the old pendency could not be liquidated much and it is hoped, that those Judges in Pilot districts and other districts should make all possible endeavour to reduce pendency of old cases.

We understand that the Link Courts create another problem and contribute to ineffectual functioning of the courts. The Judges going on Link Court also have to face many problems. We have converted 15 Link Courts of Additional District Judges into regular courts and remaining Link Courts are also under consideration to be converted into Full Time Courts.

We are also considering to revise prevalent unit system to make it more rationalised and workable. We are also thinking to provide some extra units as an incentive for disposal of old matters for more than 5 years and I hope,

that this incentive will encourage you all to dispose of maximum number of old matters.

The District Judges are Heads District Judiciary and Leaders of the Judicial Flock. Their conduct inside and outside courts must be such as to set an example to the junior officers. If they discharge their Leadership role properly and adequately, must of the malaise affecting the Judiciary will disappear. It would also be useful for you to periodically meet your subordinate officers, after court hours, on Sundays and holidays to discuss problems of respective courts.

There are complaints that the Judicial Officers are not keeping and maintaining regular court hours. Every officer, be he a junior of senior is expected to function in open court from 11.00 A.M. to 5.00 P.M. and strictly maintain punctuality. District Judges who are heads of district judiciary, must set an example in this regard. District Judges who commence sitting late and rise early cannot enforce discipline in Courts under them. It is necessary that the District Judges should lead the way and inculcate & develop proper work culture in their subordinates.

We have also noticed that many of the subordinate Judges, thought they come in Court in time, but, instead of occupying the seat in the Court and starting judicial work punctually at 11.00 A.M. they are otherwise busy in their chambers in dictating judgements/orders. This tendency should be strictly curbed.

We have also experienced that annual budget proposals are not sent in time form any of the districts. Further, the proposals do not make provisions of new items of expenditure such as purchase of typewriters, photo copiers, coolers etc. and therefore, when demands are received from various districts for allotment of funds for these items, no funds could be made available by the High Court.

The district court libraries are also not properly maintained inspite of annual budget allotment made by the High Court for the purpose.

The progress reports regarding works sanctioned under the Centrally Sponsored Scheme is not sent in time with the result that there is always delay in sending the information to the Government form the High Court for getting allotment of additional funds. The construction work is going on throughout the State, but, it is also true that some of the district Judges do not keep close supervision in the matter of progress of construction work, resulting in delay of such constructions.

Rule 565 of M.P. Civil Court Rules enjoins upon the District Judges to inspect atleast once in every year all Courts and offices at the district headquarters and also the outlying courts and submit quarterly reports to the High Court, but it is also noticed that there is recurrence of defalcation cases in various districts which shows that proper inspections are not carried out. The object of annual inspection by D.J. need not be over stressed. The District Judges should complete all annual inspections upto February of each year so that they can effectively write A.C. Rs. of the subordinate judicial officers and also improve administration and observance of rules.

Here, I may also point out that writing of A.C.R. of subordinate judicial officers is not a matter of mere formality. The importance of A.C.Rs. cannot be over-emphasised. The primary importance of recording Annual Confidential reports of officers is to achieve an objective assessment of capacities of individual officer in the performance of his duties and to forecast his capacity for different and more responsible work. Such reports are also designed to gear such assessment to a common standard through out the promotional area. It should be ascertained, how far an officer is able to apply intelligently the law and procedure prescribed to cases coming before him. His qualities of leadership, his behavioural pattern towards the subordinates superiors and general public are also points of interest which have to be noted. The report should also comment generally about the manner in which the officer has discharged his various duties for the period under report and give and estimate of personality, character and ability. The confidential reports should set out distinctly and tersely sufficient particulars and it is essential that they should be clear to show special merits or defects so that the High Court may form a definite and correct judgement on the merit of the officer. In case of a very bad report, the infavourable traits should be briefly illustrated. The district Judges should form a clear and reasoned estimate of the merits and de-merits of the officers working under them and express their views clearly and fully. Vague and inconclusive remarks and use of vague general remarks like 'Satisfactory', 'Good', 'Bad' or like are not very helpful and devoid the object with which such report is prescribed. When it is said that the officer is good, it may be taken to mean that the reporting officer has really no criticism to offer and the officers performance has given satisfaction. Similarly, in reporting unfavourably of an officer, the use of such expression as 'Bad', 'Unsatisfactory' or 'Useless' is distinctly more objectionable. It is essential to note, if possible, wherein the badness consists. The Confidential reports should be correct assessment of the officer without any bias, prejudice or favour. Fairness and impartiality in writing confidential reports would serve the main objective of maintaining confidential reports so as to enable the High Court to assess the relative merits of subordinate judicial officers and to create a sense of security amongst honest and efficient officer and fear among the dishonest and inefficient officers.

It is also a matter of concern that many officers-in-charge of Malkhana do not undertake the work of physical verification of case properties. In one or two districts, it has been noticed that physical verification of properties has not been made since last many years. This also leads to give occasion for defalcation of the valuables. Similarly, the O.I.Cs. Malkhana are not taking much interest in disposal of case properties, with the result that at many headquarters, there is no suitable accommodation to store the properties. This important duty and work should never be neglected. The High Court has been issuing directions from time to time in this regard and I expect that you will seek compliance of all such directions.

I would like the District Judges to think about their requirements of Court buildings, residence, furniture and library and make reasonable demands to the High Court to take up the matter with the Government.

You will also get the advantage to listen to my senior brothers Hon. S.K. Dubey, Hon. D.P.S. Chauhan and Hon. Dharamadhikari who have taken the trouble to spare their time and came here to attend this function.

The system of lok adalat would also be much helpful in reducing the pendency in the subordinate courts and also in the High Court. I am happy to form you that we are going to organise one such Lok Adalat in the High Court at the Main Seat very shortly in the next month. We have issued instructions from time to time to hold Lok Adalats and to try to dispose of maximum number of cases through such Lok Adalats. I would also insist that no any formal function should be organised by holding Lok Adalat. Now this onerous task has come to our shoulders and we have make this moment very successful.

As you are already aware, N.I.C. has already provided you the computers, printers, terminals etc. and very shortly, we are going to start computerisation work in the subordinate courts which will be much helpful in reducing pendency and facilitating court working system in subordinate courts also. On this subject, you are going to be benefited by a separate lecture which has been organised today by N.I.C.

As I have pointed out earlier, the Supreme Court has taken care of all the problems and has given many more thing to the subordinate judiciary which would otherwise not have been possible, and we on our part, complied with and fulfilled almost all those directions given by the Supreme Court in the famous All India Judges Case. You are also going to get benefit of the revised pay scales recommended by the 5th pay Commission and besides this, as per directions of the Supreme Court, the First National Judicial Pay Commission is taking care of your pay emoluments and other service conditions. Thus, you have not to bother much for these things and we, on our part, are already taking care of all these things. Further, I may also assure you that the High Court will not be wanting in taking up the cause of improving working conditions of subordinate judiciary. I am well aware of the fact that your working is adversely affected not only by the inadequacy of the officers but also by indifferent and non-cooperative attitude of the Bar. But, it is the Judge who has to conduct court proceedings. It is for him to ensure that the proceedings are conducted in accordance with law in a dignified manner. The rights and privileges of the judicial officers, members of the Bar and members of the staff are also subordinate to this end. It is, therefore, necessary that the Judges should adopt a firm and graceful attitude while presiding over Courts and ensure that Court proceedings are conducted in a dignified manner.

I hope, that when you go back to the districts, you will go back with renewed vigour and determination to make the subordinate judiciary an effective system of justice to the people. I wish you very happy deliberations in the conference of Judicial Officers. I expect that among various problems which you are going to discuss, you will also deliberate on certain issues relating to cause of Justice, as to how, disposal of cases can be increased at the same time maintaining quality of work and what are the problems causes of delay and how the same can be avoided.

●

SPEECH DELIVERED BY HON'BLE C.J. SHRI A.K. MATHUR ON INAUGURATION OF M.P. JUDICIAL OFFICERS CONFERENCE HELD ON 21-3-1998 AT BHOPAL

Your Excellency the Governor of Madhya Pradesh & U.P.

Hon. Chief Minister,

Hon. Law Minister,

President of the Judicial Officers' Association,

Brother Judges,

Judicial Officers,

Ladies & Gentlemen,

It is the great occasion where the State Judicial Officers are holding a conference to interact among themselves and explore new avenues for dispensation of justice speedily. In democracy, where rule of law is supreme, its dispensation has to be through judiciary. Therefore, the role of courts is of utmost importance. In our Constitution, courts have also been assigned a great role to play, to work like a watchdog so that the other wings of the Constitution, i.e. Executive and Legislature, work within the frame-work of the Constitution. After working of 50 years of our Constitution, it has become apparent that Indian courts have to play a pivotal role in Indian democracy.

So friends, you are there to play a major role in safeguarding the Indian democracy and to shoulder this heavy responsibility. In order to discharge this heavy responsibility, you have to work like a horse and live like hermit. Your job is of constant toiling and you have every day new agenda before you in courts connected with varied nature of cases, civil, criminal and misc. cases. Therefore, a constant vigil is necessary. You must remember that you are all the time under gaze of public and they watch your every moment inside and outside the courts. A small deviation on your part will raise eye-brows, because people of India respect you and they expect that you should live by the strict norms. People expect that you should be above board and you should not fall victim to any kind of easy virtues. You have to take proper care to see that you behave properly inside and outside the courts and act in upright manner and you should live like a Ceasar's wife above suspicion.

Friends, you are at the grass-root and in the hierarchy of administration of justice you come first where people come to you for justice. You are the first portal of justice & if you fail by your omission or commission, people will lose faith in the Institution. Therefore, it has been my endeavour all through to strengthen the subordinate judiciary so that the abiding faith of the citizen of India in the Institution is maintained. This, you must have realised that a number of judicial officers has to lose their job where their bona-fides were found lacking. In fact, this institution is surviving because of faith of the people in the integrity of the Institution. Therefore, people expect maximum standard of morality form you and I am sure by your conduct inside and outside the court, you will keep this abiding faith of the people. You are aware of judicial maxim

that "Justice should not only be done but appears to be done." Therefore, justice should not only be done but it should also appear that it has been done. This can only be done by your straight-forward and open approach. I have no doubt that the judiciary in the State of M.P. has acted in the most upright manner and I have full faith that this will continue and many more higher standards shall be achieved by you.

I would like to emphasise that we are dealing with human beings, be it a rich or a poor. We have no distinction between rich and poor so far as administration of justice is concerned. But looking to the conditions in the State of M.P., we have to be more sympathetic towards the poor litigant. They deserve our sympathy and kind approach towards them. The vastness of the State and utter poverty in large number of areas cannot be lost sight of, therefore, there is reason for us to be more humane to such class of persons. You know that in the Jurisprudence we have a very popular saying that justice should be tampered with mercy. The courts should be more sympathetic and pragmatic in their approach and Indian courts should keep in view the milieu of our society that we the Indian are emotional people and have always shown sympathy for weaker sections of the society. Therefore, the Indian courts have to be more equity oriented rather than doing technical justice. You, while administering justice, should administer it with mercy and have a sensitivity towards this class of persons. Courts after-all exist for people and we owe duty towards people only and our paramount consideration should always be for the service of humanity and people of India.

I have come across some of the cases where I found lack of sensitivity on the part of judicial officers towards poor litigant public and I have not spared any effort in emphasising where-ever I have gone on Inspection to districts of this aspect to the judicial officers as well as to the lawyers fraternity. You must realise that when a poor litigant covering ling distances come to courts and he is told that his case had been adjourned for a flimsy ground, imagine the plight of that poor litigant who has to travel a long distance and the hardship which he has undergone in the hope of getting his case expedited in court. This can only be realised if you put yourself in the position of that litigant. The courts should have sensitivity and realise that it is easy for them to postpone the matter but how torturous it is for the litigant public in terms of physical, mental and financial hardships. Therefore, endeavour should be that minimum adjournments should be granted and you must have sympathy and consideration for poor litigant who is starving for justice. The distances in the State of M.P. are very long and it becomes very difficult for poor litigant to negotiate the same and reach the doors of justice. Hence my endeavour here is to impress upon you that please see that hardship of such persons should be felt by you and you must be fair to such litigants and come to their rescue instead of making their life more miserable.

In this connection, I would also like to invite the attention of the State that a number of times cases are being adjourned on account of non-co-operation of the prosecution agency and trials hang on for a long. I have received a number of complaints form all over the districts of M.P. that for non-service of summonses and for non-production of accused, trials are prolonged and they

are procastinated for years together. I had a discussion with the concerned authorities in the State and I have tried to impress upon them the need of co-operation in the matter of disposal of criminal trials expeditiously as it involves law and order problem, which is of paramount importance to all of us, be it for the Administration or for the Judiciary.

The state Exchequer has to spend fairly a large sums of money on maintenance of law and order, on the investigation agencies. The apprehending accuse and sending them for trial is not the end of matter. The responsibility of the investigation agency and prosecution does not end here. In fact, it begins, but the present day approach is that after the close of the investigation, the prosecution thinks that their job is over. After spending crores and crores of rupees on Investigation Agency, if the accused is acquitted by laches of prosecution then the investment made on investigating agency will go waste. One wrong acquittal is as bad as wrong conviction. At the same time, it has also a serious fall out on society. A criminal who is acquitted by the court goes out in the society, thumping his breast that he could manage to get out and creates terror in the society and problem for the law enforcing agency also. Such criminal will be like a bus going in the crowded place without brake. Such kind of criminals will be menace for the society. Therefore, the State should realise their responsibility and gear up their prosecution agency. Today the condition is that nobody is prepared to co-operate with the prosecution agency and they want to avoid being a witness in the case for the simple reason that they apprehend that appearing as a witness on behalf of the prosecution, they would be put to more harassment and inconvenience and incur unnecessary enmity with the accused.

This lose of faith could be avoided if we generate confidence in public that trial will be over expeditiously and guilty will be brought to book. For this state will have to gear up its prosecution agency and sense of accountability will have to be introduced.

The criminalisation of politics is a live issue but nobody is prepared to face the realities that why it has come about, Number of high-power committees at National level has been appointed, measures have been suggested but all without any result. The key lies with the Investigating Agency when they bring the case before the court, they should see to it, its logical conclusion and if it is properly defended, properly assisted, then it is going to have sobering effect on the society that the courts as well as Prosecution Agency are serious in bringing such criminals to book, A criminal, once he is acquitted by the court becomes a nuisance for the society and his nuisance is felt enormously during the elections & candidates have to take support in order to win election. That criminal who has facilitated the election of a candidate from any political party is bound to demand its price and that is where the criminalisation of politics beings. This effects the whole system of our administration and it finds its manifestation in various fields which I need not to dilate and most of the administrative officers can realise the effect of it. This, I am only stating for the purpose of quicker disposal of the matters so that the faith in the Investigating Agencies as well as in the Court is maintained for the peace of the society at large. The criminal administration of justice depends on State. I

hope the State Government will take this suggestion in its right perspective and take necessary steps so that people can have faith in courts and in the administration of justice.

It may not be out of place to mention some of the achievements in disposal of the matters by the High Courts as well as by the subordinate courts. In the year 1993 institution in this court was 30712 and disposal was 23375. In the year 1994, institution went up 36023 and disposal was 36171. Again in the year 1995, it shot up to 40582 and the disposal was 37692. In the year 1996, institution increased and it was 45906 and the disposal was 41596. In the year 1997 institution increased to 50268 and the disposal was 45034. Notwithstanding the disposal going up, simultaneously the institution is on the higher side and the reason for day to day increase in the institution is faith of people in the Institution. For the heavy disposal of cases, my brother judges deserve congratulations for their hard work that we could achieve higher disposal in the last 4 years. I am sure my Brother Judges will continue to strive for still higher disposal. Likewise, the members of the subordinate judiciary equally deserve my congratulations and commendation for their extraordinary services rendered by them in quicker disposal of cases. A survey of Institution and disposal would show that there is a marked achievement in disposal cases. In the year 1993, institution of cases was 5,10,633 and the disposal was 4,66,849. In the year 1994, institution was 5,27,453 and the disposal was 6,03,772. In the year 1995, the institution was 8,90,038 and the disposal was 8,48,179. In the year 1996, institution was 8,26,125 and the disposal was 10,34,651. In the year 1997, institution was 9,16,441 and the disposal was 8,88,526. These datas show that the disposal by the subordinate judiciary has also been remarkable and I am sure that they will continue to strive for higher disposal of matters.

We have added two new avenues for disposal of the matters i.e. Pilot Project and Lok Adalats. In 1994 we took four districts for Pilot Project and the idea was that no case older than two years should be allowed to remain pending at the close of the Project. The Pilot Project was introduced in the districts of Guna, Ratlam, Seoni and Rajnandgaon with a view to make them litigation free districts. The results in these four districts was very encouraging and therefore we introduced Pilot Project in another 4 districts namely Bilaspur, Shahdol, Dhar and Sagar. The result in all the districts has been very good and we are slowly taking up the other districts also under Pilot Project Scheme so as to expedite disposal. Like-wise, Lok Adalat movement has also been a great success. Lok Adalat movement has got sanction of the Parliament and the Parliament enacted Legal Services Authority Act, 1987. The State has also framed rules viz. M.P. State Legal Services Authority Rules, 1996. As such, Lok Adalat movement has come to acquire a statutory status. Under the Lok Adalat Scheme, a large number of cases have been disposed of. In 1997, 18095 cases were disposed of in Lok Adalat in districts. We also held our first Lok Adalat of High Court at Indore Bench on 13-10-96 and sufficient number of cases were disposed of at Indore Bench in Lok Adalat. We propose to have a High Court Lok Adalat shortly at the main seat at Jabalpur also and we hope that a large number of cases will be decided in this Lok Adalat also. This

movement is now slowly and slowly getting momentum and it will be implemented rigorously.

A small resume of the working of the courts in the State of M.P. would show that the High Court as well as the subordinate courts are striving hard despite some short-comings, still all the members of the fraternity are working to the best of their capacity and I am proud of the Institution and I assure that the judiciary in the State of M.P. will do its best to serve the people of the State and speed up disposal of matters. I end this speech with a note of thanks to all concerned, to the State Administration as well as to the Organisers of the Conference for their nice arrangements and I am sure that the judicial officers will interact between themselves and find out certain ways and means to dispose of the cases quickly and come up to the expectation of people of the State.

Thanking you.

●

केवल पढ़ें नहीं, अपनाएं भी

पत्र–पत्रिका पढ़ने के पश्चात कितने लोग उसमें प्रकाशित तार्किक एवं स्पष्ट विचारों को अपने व्यवहार में अपनाते हैं। हमे केवल मनोरंजन अथवा ज्ञान वृद्धि हेतु ही पत्रिका नहीं पढ़ना चाहिए, अपितु उसमें प्रकाशित लेखों का गहन एवं तर्कसंगत विश्लेषण कर उनको व्यावहारिकता का जामा (आवरण) भी पहनाना चाहिए। स्तरीय पत्रिकाओं में उठाए गए विचारों, मुद्दे एवं आलेखों का प्रमुख उद्देश्य वैचारिक जागृति के साथ ही सामाजिक एवं व्यवहारिक बदलाव लाना होता है। इसमें प्रकाशित अधिकांश सामग्री एवं सुझाव विचार करने के साथ ही अनुसरणीय होते हैं। देखने में आता है कि उच्च शिक्षित एवं प्रबुद्ध वर्ग भी व्यवहारिक तौर पर कोई नया अथवा भिन्न कार्य करने में इसलिए सकुचाते हैं क्योंकि इससे समाज से कटने अथवा प्रताड़ित होने का डर रहता है और सुलझी हुई तथा वृहद मानसिकता होने के पश्चात भी वे सड़ी गली मान्यताओं, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों एवं अस्वस्थ्य परंपराओं से दीमक की तरह चिपके रहते हैं। इसलिए इसी से "उपदेश से अच्छा उदाहरण" वाली कहावत चरितार्थ होगी और भारत को स्वस्थ विचारशील एवं प्रगतिशील विचारधारा वाला देश बनाने की कोशिश सच्चे अर्थों में सार्थक हो पाएगी। अतः पत्र–पत्रिकाओं को केवल पढ़े नहीं, उनके विचारों को अपने व्यवहार में उतारें।

कारूलाल जमड़ा

साभार– दैनिक भास्कर, 8-3-1998

आरोपी परीक्षण : उद्देश्य एवं प्रश्नों की रचना

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

अभी कुछ दिन पूर्व ही एक माननीय न्यायाधिपति महोदय ने मुझे बुलाया व पूछा कि धारा 313 द.प्र.स. के अंतर्गत आरोपी परीक्षण हेतु प्रश्न किस प्रकार तैयार होते हैं। मैंने अपनी समझ व क्षमता के आधार पर विचार अभिव्यक्त किए तो उन्होंने पूछा कि एफ.एस.एल. रिपोर्ट (फोरेन्सिक साइन्स लेबोरेटरी रिपोर्ट) पर से यदि यह पूछा जावे कि "प्रादर्श पी 1 एफ.एस.एल. रिपोर्ट है तुम्हारा क्या कहना है?" तो क्या प्रश्न सही रूप से निर्मित होना माना जावेगा? मैं क्या उत्तर दे सकता था। मौनम् सर्वस्य साधनम् के रूप में मौन धारण कर लिया तो माननीय न्यायाधिपति महोदय ने पुनः प्रश्न पूछा कि यह बताओ कि किसी आहत व्यक्ति के शरीर पर 25 उपहतियाँ कारित हुई हैं तो उस संबंध में 25 प्रश्न तैयार करोगे या एक प्रश्न पर्याप्त है अथवा पच्चीसों उपहतियों का विवरण एक ही प्रश्न में पुनः दोहराओगे? मैं मौन धारण किये खड़ा ही था कि उन्होंने कहा कि न्यायिक अधिकारीगणों को इस विषय पर प्रशिक्षण के माध्यम से एवं पत्रिका के माध्यम से मार्गदर्शन होना चाहिए।

एक प्रकरण में एक पीठासीन अधिकारी ने 25 उपहतियों का विवरण एक प्रश्न में तैयार कर दिया था तो कुछ ने प्रत्येक उपहति का विवरण देते प्रश्न पूछे थे। एफ. एस.एल. रिपोर्ट पर से केवल यह प्रश्न बनाया गया था कि प्रदर्श पी.–1 एफ.एस.एल. रिपोर्ट है तुम्हारा क्या कहना है? ऐसे ही कई प्रश्न बनाए जा सकते हैं। जैसा प्रदर्श पी.–1 द्वारा घड़ी जप्त हुई थी। प्रदर्श पी.–2 घटना स्थल का नक्शा है। प्रदर्श पी. –3 द्वारा लाठी जप्त हुई थी। प्रदर्श पी.–4 आरोपी का मेमोरेन्डम कथन है। प्रदर्श पी.–5 द्वारा आरोपी से सायंकाल जप्त हुई थी। प्रदर्श पी.–6 डाक्टरी रिपोर्ट है जिसके अनुसार परिवादी को क्या उपहति हुई थी, दर्शाया गया है। प्रदर्श पी–7 मृतक रामलाल का मृत्यु कालिक कथन है। लेकिन ऐसे प्रश्न तैयार करके आरोपी को पूछने से आरोपी को कोई भी बोध नहीं हो पाएगा। किसी विलेख में क्या है व उसका विवरण क्या है यह सारगर्भित तत्व होता है जिस संबंध में चिंतन करके आरोपी से उस विषय पर तथ्यात्मक जानकारी लेना होती है। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि आरोपी परीक्षण हेतु जो प्रश्नावली तैयार की जाती है उसका उद्देश्य प्रकरण में उसके विरुद्ध आई हुई प्रगट होने वाली, उपस्थित, उपलब्ध दिखाई देने वाली एवं प्रतीत होने वाली समस्त परिस्थितियों के संबंध में जो साक्ष्य में आई है के विषय में उससे स्पष्टीकरण लेना होता है। अतः प्रकरण में आई हुई समस्त मौखिक व लेखी साक्ष्य के आधार से प्रश्नावली तैयार की जानी होती है अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि अभियोजन

साक्षियों के मुख्य परीक्षण प्रतिपरीक्षण में आई हुई ऊपर उल्लेखित परिस्थितियाँ लेखी साक्ष्य से जो सिद्ध की है, उसमें आई हुई परिस्थितियों के आधार से प्रश्न तैयार करना ही है अपितु आरोपी की ओर से प्रतिरक्षा में प्रस्तुत मौखिक साक्ष्य (परीक्षण प्रतिपरीक्षण) एवं लेखी साक्ष्य के आधार से प्रश्न पूछे जाना है। इस बात को अच्छे से स्मरण कर लेना है। ऐसा नहीं करने पर न्यायालय द्वारा गुणात्मक आधार से भूल होना संभव है।

आरोपी परीक्षण का मुख्य उद्देश्य यह है कि आरोपी को इस बात का विवरण दिया जावे कि उसके विरुद्ध क्या क्या तथ्य–तत्व रेकार्ड पर उपलब्ध है तथा उसका वह क्या स्पष्टीकरण देना चाहता है व उसे किन–किन आरोपों से अपनी प्रतिरक्षा करना है। इस प्रकार से आरोपी से न्यायालय प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्टीकरण प्राप्त करता है। उसकी यह इच्छा है कि प्रश्न का वह उत्तर दे या न दे अथवा उत्तर के साथ स्पष्टीकरण दे या मौन धारण कर ले। यदि उत्तर देना है तो उत्तर लिखे। उत्तर के साथ स्पष्टीकरण देता है तो स्पष्टीकरण लिखे। मौन धारण करता है तो वैसा लिखे। उत्तर नहीं देना चाहता तो उस रूप से लिखे। लेकिन प्रश्नों के उत्तरों के स्थान को रिक्त न छोड़ें। स्मरण रहे आरोपी के परीक्षण में संयुक्त अथवा पूर्व कल्पित विचारों के आधार से भी प्रश्न नहीं पूछे जाना है, जैसे तुम कितने बजे घटना स्थल पर गये थे? ऐसे प्रश्न में ये पूर्व कल्पित हो गया कि आरोपी घटनास्थल पर गया था। इसका उत्तर यदि आरोपी यह दे कि पता नहीं। तो अर्थ का अनर्थ हो गया कि न्यायालय अपने निर्णय के चिन्तन में यह मान बैठेगी कि आरोपी मौके पर, घटनास्थल पर तो गया था उसे समय मात्र मालूम नहीं है जबकि वास्तविकता यह है कि उसे इस विषय में पूछा नहीं गया। इसलिये उक्त प्रश्न को दो भागों में विभक्त करना होगा। प्रथम प्रश्न होगा कि तुम घटना स्थल पर गये थे क्या? दूसरा प्रश्न होगा यदि तुम घटना स्थल पर गये थे तो कितने बजे गये थे? एक ही प्रश्न में कई प्रश्न सम्मिलित नहीं होना चाहिए। एक प्रश्न एक उत्तर के आधार से प्रश्नावली को तैयार करना चाहिए। वास्तव में आरोपी परीक्षण संबंधी प्रक्रिया कोई औपचारिकता नहीं है कि कुछ एक प्रश्न जैसे तैसे बना लो व उत्तर हाँ, ना या मालूम नहीं अथवा क्या पता जैसे लिख लो। न्यायदान का यह एक अभिन्न अंग है क्योंकि हम आप आरोपी को अपराधी पाते दंडित करते हैं उसे अर्थ दंड या जेल की सजा देते हैं। अतः उसका यह अधिकार है कि उसे यह बताया जावे कि उसके विरुद्ध प्रकरण में क्या बातें दृष्टिगोचर हो रही है, प्रगट हो रही है ताकि वह उसका स्पष्टीकरण दे सके। यह बात एकदम आसानी से समझ में आ जाएगी यदि कल्पना करो कि हम आप के विरुद्ध किन्ही आरोपों के आधार से कदाचरण विषयक विभागीय जाँच चल रही है तब अपचारी परीक्षण हेतु प्रश्नावली

तैयार होगी तब आपकी अपेक्षाएं क्या होगी? यही तो होगी कि सभी तथ्य हमें बताए जावे ताकि हम उसका उत्तर दे सकें। स्पष्टीकरण दे सके एवं सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस जाँच के संबंध में हमारा पक्ष क्या है यह स्पष्ट रूप से बता सकें।

व जाँच चलती है तो हम अपने मिलने जुलने वालों को भी तो बार–बार स्पष्टीकरण देते रहते हैं कि "वास्तविकता" क्या है? यदि ये सब सही है तो अपराधिक प्रकरणों में भी आरोपी परीक्षण हेतु तैयार किये जाने वाले प्रश्नों में कोताही क्यों होना चाहिये। हमारे व आरोपी के बीच अंतर केवल यह है कि अपराधिक प्रकरण में आरोपी के विरुद्ध जाँच हो रही है तो विभागीय प्रकरण में हमारी जाँच हो रही है। लेकिन वैचारिक मापदंड तो दोनों ही स्थितियों में एक ही है। अतः उक्त कार्य इस भावना से होना है कि सब के साथ न्याय होना है। ***शिवाजी साहेबराव वि. स्टेट 1973 (2) सु.को. के. 793*** में विशिष्ट शब्दों में इस संबंध में न्यायालय के कर्त्तव्य का उल्लेख किया है। प्रकरण में कई साक्षी परीक्षित होते हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साक्षी के द्वारा किए गए कथनों के आधार से प्रत्येक बार प्रश्न पूछा जावे। यदि ऐसा होने लगे तो एक मुद्दे पर 10 बार प्रश्न बनेगा। जैसे सभी दसों साक्षी कहते हैं कि रामलाल को श्यामलाल ने मारा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम प्रत्येक साक्षी का नाम लिखकर प्रत्येक बार यह प्रश्न लिखे कि अभियोगी साक्षी क्रमांक अमुक का कहना है कि तुमने रामलाल को उपहति कारित की थी, तुम्हें क्या कहना है? इस ***संबंध में बक्षिस सिंह विरुद्ध राज्य ए.आय.आर. 1967 सर्वोच्च न्यायालय पृष्ठ 752*** की ओर ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं उसमें कहा है कि : Under Section 342 (Old) and 313 (new) Cr. P.C. questions are put to accused to enable him to explain any circumstances apperaring in evidence against him. Under that section, each separate piece of evidence in support of circumstance need not be put to him and he need not to be questioned in respect of it.

एक बात महत्वपूर्ण है जिसका स्मरण रखा जाना चाहिये। यदि अभियुक्त के विरुद्ध कोई बात आती है व उससे संबंधित विषय पर उसे आरोपी परीक्षण में प्रश्न नहीं पूछा गया है तो ऐसे विषय या तत्व को अभियुक्त के विरुद्ध निर्णय में उपयोग में नहीं लिया जा सकता है। ऐसा ***हरिजन मेधा जेष्टा विरुद्ध राज्य ए.आय.आर. 1979 सुप्रीम कोर्ट 1566*** में बताया गया है। एक अन्य दृष्टांत ***ए.आय.आर. 1976 सु.को.*** पेज 2140 में कहा गया है कि सारवान तथ्य जो आरोपी के विरुद्ध प्रकट हुए थे एवं उस संबंध में प्रश्न पूछकर स्पष्टीकरण नहीं लिया गया था तो गंभीर प्रकार की त्रुटि मानी गई थी। यथा Ss. 342 537 (old Cr. P.C.) = 313, 464-465 (new Cr.P.C.) Duty of the court was explained in this manner :-

If material circumstances appearing against accused not put up to him.

Serious irregularity is caused serious irregularity. If material witnesses not produced prejudice is caused to the accused. Trial held to be vitiated. Cr. App. No. 72 of 1970 Dt/ 15-21971 (Delhi), was reversed.

यह बात अलग है कि कभी कभार प्रश्न पूछने में ऐसी त्रूटि हो जाती है जो सारवान प्रकृति की न हो तथा अभियुक्त के लिए पूर्वाग्रह कारित करने योग्य न हो तो वरिष्ठ न्यायालय उस दृष्टिकोण से ऐसे तथ्य को देखता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें भूल करने की छूट ऐसे प्रसंगों के कारण मिलती है यथा ***लाभचंद विरूद्ध राज्य ए.आय.आर.1975 सुप्रीम कोर्ट 182*** में कहा गया है कि

Where the appellant accused was fully aware of the nature of the allegations made against him and in addition ot giving a detailed explanation, he had also filed an elaborate written statement and had not raised any objection either in trial court or appellate court as to non compliance of Section 342 (old). Criminal P.C. held that though the general form of question put to accused does not strictly comply with Section 342 he has not suffered any injustice and his conviction is not vitialted.

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टांत से यह ज्ञात होगा कि ऐसी विशिष्ट परिस्थितियाँ थी जिस कारण सर्वोच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय की भूल आरोपी को पूर्वाग्रहयुक्त होना नहीं माना। ऐसी भूल कब क्षम्य है कब नहीं यह तो हमेशा हम आपके लिए अनिश्चितता का विषय होगा क्योंकि इस संबंध में निर्णय लेने का अधिकार वरिष्ठ न्यायालय को होगा प्रारंभिक न्यायालय को नहीं।

एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि धारा 311 अथवा धारा 391 दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत अतिरिक्त साक्ष्य लिपिबद्ध करने के पश्चात् क्या आरोपी परीक्षण पुनः लिपिबद्ध किया जाना है। धारा 311 के अंतर्गत अतिरिक्त साक्ष्य आरोपी कथन (परीक्षण) पश्चात् होती हैं तब एवं धारा 391 के अंतर्गत अपील न्यायालय द्वारा लिपिबद्ध साक्ष्य पश्चात् आरोपी परीक्षण तब आवश्यक होगा जब उसके विरूद्ध ऐसी साक्ष्य आई हो जिस कारण उक्त परिस्थितियां का स्पष्टीकरण मांगा जाना आवश्यक है। न्याय दृष्टांतों में मत भिन्नता अवश्य है लेकिन वस्तुस्थिति यहीं है कि आरोपी परीक्षण आवश्यक है। धारा 391 (4) में स्पष्ट शब्दों में प्रावधान है कि धारा 391 के अतंर्गत साक्ष्य पाठ 23 (धारा 272 से 299) के अंतर्गत जाँच के रूप में ही है। अतः स्वाभाविक रूप से सामान्य रूप से भी जाँच प्रारंभिक न्यायालय (ट्रायल) में इसी पाठ के अंतर्गत लिपिबद्ध करता है। आरोपी परीक्षण भी इसी पाठ की धारा 281 के अंतर्गत रिकार्ड किया जाना भी दर्शाया है। इस संबंध में कुछ दृष्टांत बताए जा सकते हैं। यथा ***मौजिया रत्ना भील विरूद्ध राज्य ए.आय.आर. 1961 (म.प्र.) 10 बिहारी का प्रकरण ए.आय. आर. 1954 सु.को. 692, इस्माईल विरूद्ध एम्परर का प्रकरण ए.आय.आर 1926***

लाहौर 683, चेयरमेन का प्रकरण ए.आय.आर. 1933 कलकता 347 रूसी बिस्वास का केस ए.आय.आर. 1954 ओरिसा 65 (66)। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि अपील कार्यवाही भी ट्रायल कार्यवाही का ही अवरित अंग है, सतत प्रक्रिया है, निरंतर प्रक्रिया है। अतः संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि आरोपी परीक्षण तब तब कर ही लेना चाहिए जब जब प्रतिरक्षा में साक्ष्य आई हो अथवा अतिरिक्त साक्ष्य किसी भी स्टेज पर आई हो तथा आरोपी विरूद्ध परिस्थितियाँ अस्तित्व में होना प्रतीत होती है। ऐसा इसलिए कि आरोपी को सुनवाई का अवसर दिए बिना उसके विरूद्ध निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। इस सम्बन्ध में यह न्याय दृष्टांत देखने योग्य है

Rameshwar Dayal Vs. State, A.I.R. 1978 SC 1958 (Section 540 old section 311 New)

The right to adduce evidence in rebatal is one of the inevitabel steps in the defence of a case by the accused and the refusal of the same amounts not only to an infracation of the provisions of the Cr. P.C. but also to the principles of natural justice and offends the famous maxim 'Audi Alterum Paten'.

स्मरण रहे द.प्र.सं. के पाठ 8 (परिशांति कायम रखने के लिए और सदाचार के लिए प्रतिभूति) एवं अध्याय 9 (पत्नी, संतान और माता–पिता के भरण–पोषण के लिए आदेश) के लिए धारा 313 दं.प्र.सं. के प्रावधान लागू नहीं होते हैं। जैसे ***ए. आय. आर. 1959 कलकत्ता 454 (सेऊं कुम्हार विरूद्ध मोंगरू) ए.आय.आर. 1958 कलकत्ता 140 (कार्तिक चंद्र विरूद्ध पन्नालाल) इब्राहिम विरूद्ध एम्परर, ए.आय.आर. 1933 सिंध 49 रंगलाल महतो विरूद्ध स्टेट 1978 बी.एल.ओ.।***

एक प्रश्न यह पूछा जाता रहा है कि आरोप विवरण आरोपी को सुनाए समझाए जाने के पश्चात् यदि आरोपी बाद में कभी आरोप स्वीकार करता है तो क्या करना चाहिए। इस संबंध में सकारात्मक दृष्टि से उत्तर दिया जा सकता है (देखे "जोति जर्नल खंड–3 भाग–4 दिसंबर 1997 पृष्ठ 40") यहाँ यह बताना है कि ऐसी परिस्थिति में आने पर आरोपी के आवेदन पत्र के आधार से जब वह पुनः आरोप स्वीकार करना चाहता है तो उस स्टेज पर भी आरोपी परीक्षण कर लेना चाहिए तथा उपलब्ध समस्त सामग्री एवं अभियुक्त के द्वारा प्रस्तुत आरोप स्वीकारोक्ति के आवेदन पत्र के आधार से भी अभियुक्त परीक्षण कर लेना चाहिए जिससे उसकी स्वेच्छिक स्वप्रेरणायुक्त स्वीकृति रेकार्ड पर आ जाएगी। इस प्रकार आरोपी परीक्षण किसी भी स्टेज पर किया जा सकेगा। इस संबंध में स्पष्ट प्रावधान है।

कुछ औपचरिकताऐं आरोपी परीक्षण में होती है उनका पालन भी होना चाहिए। आरोपी कथन अथवा परीक्षण शपथ पर नहीं होता है अतः आरोपी को शपथ पर कथन

करने को नहीं कहना है। अभियुक्त को यह भी बताया जाना आवश्यक है कि वह प्रश्नों के उत्तर न देने हेतु स्वतंत्र है। उसकी इच्छा है कि उसके विरूद्ध प्रकरण में आए तत्वों का वह स्पष्टीकरण दे अथवा न दें। प्रत्यके अभियुक्त का पृथक परीक्षण होगा। पीठासीन अधिकारी स्वयं ही उसका परीक्षण करेगा। प्रत्येक पृष्ठ पर पीठासीन अधिकारी एवं अभियुक्त के हस्ताक्षर या अंगुष्ठ चिन्ह जैसी भी स्थिति हो अंकित होंगे। एवं प्रमाण पत्र अंकित किया जायेगा कि आरोपी कथन का पूर्ण एवं सही विवरण अंकित है। देखें धारा 281 (5) (दं.प्र.सं.) त्वरित संदर्भ के लिए धारा 281, 313 एवं 314 द. प्र. सं. के प्रावधान भी यही प्रकाशित किए जा रहे हैं जिससे इस संबंध में विधि प्रक्रिया समझने में सुविधा होगी। म.प्र. अपराधिक आदेश एवं नियम के नियम 161 से 168 तक के प्रावधानों को भी कृपया एक साथ पढ़ लें जिससे यह विषय पूर्ण से तैयार हो जाएगा। स्मरण रहे कि आरोपी द्वारा प्रस्तुत लेखी कथन चाहे वह द.प्र.सं. की धारा 314 के अंतर्गत हो अथवा धारा 243(1) या धारा 247 या धारा 254 अथवा धारा 233(2) के अंतर्गत वे आरोपी परीक्षण का स्थान नहीं ले सकते। अतः विचारण न्यायालय के स्तर पर चिंतन केवल यह होना चाहिए कि आरोपी परीक्षण हेतु प्रश्नावली तैयार कर प्रश्न पूछे जाना ही है। यह बात भिन्न है कि यदि उपलब्ध लेखी एवं मौखिक साक्ष्य से कोई तथ्य अभियुक्त के विरूद्ध आया ही नहीं है तो कोई प्रश्न बनेगा ही नहीं। प्रश्न तो तब बनेंगे जब कोई तथ्य आरोपी के विरूद्ध आए हों। जो प्रश्न पूछे जाना है वे पृथक–पृथक हों तथा बोधगम्य व सारवान हों। न्यायालय ने आरोपी का ध्यान प्रश्नों के माध्यम से उन तथ्यों की ओर आकृष्ट करना चाहिये जो न्यायालय की दृष्टि में मर्म युक्त हो तथा आरोपी का किसी तथ्य के संबंध में स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ***द्वारकानाथ विरूद्ध एम्परर ए.आय.आर. 1934 प्रिव्ही काउंसिल पेज 130 दृष्टव्य है।***

एक बात बहुत स्पष्ट रूप से जान लेना है कि प्रत्येक आरोपी के लिए एक एक प्रश्नावली हो व प्रत्येक अभियुक्त को पृथक–पृथक रूप से प्रश्न पूछे जाना है व एक एक प्रश्नावली पूर्ण करना है। सहज संभव हैं कि जो प्रश्नावली तैयार होगी वह सभी के लिए समान रूप से लागू होगी अतः प्रत्येक के लिए भिन्न प्रकार की प्रश्नावलियाँ तैयार करने की आवश्यकता नहीं होगी।

समन्स केस व वारन्ट केसेस में भी आरोपी कथन (परीक्षण) होता है। लेकिन जहाँ आरोपी को उपस्थिति से छूट दे गई है वहाँ पर आरोपी कथन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह सिद्धांत वारन्ट ट्रायल से भिन्न ट्रायल्स के लिए मात्र लागू होगा। अर्थात् समन्स केसेस हेतु। वारंट ट्रायल हेतु ऐसी छूट नहीं है। एक प्रकरण ***चंदूलाल चन्द्राकर (ए.आय.आर. 1989 सु.को. 2163 : 1989 सी.आर.एल. जे. 296)*** का बार–बार

संदर्भ दे कर यह बताया जाता रहा है कि वारंट प्रकरणों में भी ऐसी छूट दी जा सकती है। लेकिन ऐसे विचार को सही न मानें। उक्त दृष्टांत से ज्ञात होगा कि सर्वोच्च न्यायालय ने यह छूट आरोपी के इस घोषणा के कारण दी थी कि उसे आरोपी के कथन (परीक्षण) के संबंध में कोई उत्तर नहीं देना है ऐसा मान लिया जावे तथा यह भी घोषित किया कि आरोपी परीक्षण न होने के तथ्य को गुण–दोष के आधार से वह भविष्य में चुनौती नहीं देगा। अतः आरोपी कथन (परीक्षण) किया ही जाना है। एक प्रश्न यह भी पूछा जाता है कि चंदूलाल चंद्राकर के प्रकरण जैसी स्थिति नहीं आती है एवं अभियुक्त मृत्यु शैय्या पर है या आरोपी न्यायालय आने में किसी भी स्थिति में असमर्थ है व प्रकरण वारन्ट केस का है तो कितने दिन तक प्रकरण लंबित रह सकता है। इस संबंध में कोई न्यायादृष्टांत तो नहीं मिला है आपको मिल जाए तो सूचित कर देना ताकि प्रकाशित किया जा सकेगा। लेकिन तार्किक रूप से तो विचार किया जा सकता है। जैसे 167(2) परन्तुक (ख) द.प्र.स. में कहा गया है कि कोई भी दंडाधिकारी इस धारा के अधीन किसी अभिरक्षा में निरोध तब तक प्राधिकृत नहीं करेगा जब तक अभियुक्त उसके समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता है। अर्थात् आरोपी की उपस्थिति अनिवार्य है लेकिन हम रोजाना ही अभिरक्षा में निरोध को अधिकृत करते हैं यदि अभियुक्त कारागार में प्रस्तुत नहीं होता है अथवा अस्पताल से प्रस्तुत नहीं होता। ऐसा क्यों होता है। कारण स्पष्ट है कि प्रक्रिया संबंधी विधि अवरोध निर्मित करने हेतु नहीं, कार्य सुगम करने हेतु है। इस संबंध में न्याय दृष्टांत ***श्रीमति नूरजहाँ विरूद्ध विरूद्ध कर्नाटक स्टेट 1993 सी.आर.एल.जे. पेज 102 "जोति" खंड-दो, भाग-तीन, जून 1996*** देखें। उसमें कहा गया है कि :–

The law is not unreasonable and it does not expect an impossible thing to be performed, therfore, the Magistrate ought to have passed an order continuing accused in judicial custody. ***पालानिप्पा वि. स्टेट ए.आय.आर. 1997 सु.को. 1323*** में कहा गया है कि Legitimacy is not to be confused with propriety and the fact that the court posses a cerain power does not mean that it must always be exercised

1993 सी.आर.जे. पेज 102 के केस में अभियुक्त को निरोध में रखने संबंधी मुद्दा ही था। उक्त दृष्टांत के अनुरूप सादृष्य मूल अथवा समानुमानित सिद्धांत (अनॉलॉजी) से भी पीठासीन अधिकारी आरोपी जहाँ अवस्थित है जाकर आरोपी कथन अपवादात्मक परिस्थिति में क्यों नहीं ले सकता ? चिंतन का विषय है चिंतन की प्रक्रिया चालू रखें। आरोपी को आरोपी परीक्षण में यह अवश्य पूछें कि निर्दिष्ट साक्षी उसके विरूद्ध क्यों बोलते हैं अथवा उसे और कुछ स्पष्टीकरण देना है एवं प्रतिरक्षा में वह साक्ष्य देना चाहता है? यह इसलिए कि धारा 233 (2) धारा 247, धारा 243 (1) अथवा धारा 254

द. प्र. सं. से ज्ञात होगा कि न्यायालय आरोपी को अपनी प्रतिरक्षा करने हेतु आहुत करेगा। एक तर्क यह दिया जाता है कि ऐसा आवश्यक नहीं है। किंतु इसका उत्तर केवल यह है कि ऐसा अनुचित भी नहीं है अपितु औचित्यपूर्ण है जिस कारण आरोपी अपनी बातें स्पष्ट रूप से कह सकेगा। ऐसा करने का उद्देश्य ही यह है कि आरोपी को अपनी प्रतिरक्षा करने का समुचित अवसर मिल सके। हम आप विधि को जानते होंगे लेकिन अभियुक्त की अनभिज्ञता की भी तो उपेक्षा नहीं हो सकती है।

विषय वस्तु से संबंधित सामान्य विवरण मात्र यहाँ दिया है, सूक्ष्मतापूर्ण विवरण नहीं। अब हम व्यवहारिक धरातल पर यह देखेंगे कि आरोपी कथन (परीक्षण) किस प्रकार किया जा सकता है। प्रथमतः एक उदाहरण दिया जा रहा है उस आधार से प्रश्नावली तैयार की जा रही है व पश्चात् नित्यक्रम अथवा नित्यचर्चा में निर्मित होने वाले विभिन्न प्रश्नों को भी बनाकर दर्शाया जा रहा है। स्मरण रहे कि यह अंतिम सत्य नहीं है एक पद्धति मात्र है। हर कोई अपनी ओर से नई पद्धति को प्रवर्तित कर सकता है, सृजित कर सकता है लेकिन मुख्य मुद्दा यही शेष रहेगा कि आरोपी से उन सभी तथ्यों पर पृथक–पृथक प्रश्न तैयार करके प्रश्न पूछना है जो तथ्य उसके विरूद्ध प्रकरण में प्रारंभ से अंत के बीच आए है। उदाहरण :–

आरोपी परीक्षण हेतु प्रश्न का प्रारूप

घटना दिनांक 01–01–1997 की शाम 6 बजे नेहरू पार्क इन्दौर की है। आरक्षी केन्द्र से घटनास्थल 2 कि. मी. क्षेत्र में है। परिवादी रामलाल बगीचे में टहल रहा था। उसके साथ हीरालाल भी टहल रहा था। सामने से पन्नालाल आया और कहने लगा कि कल तू मेरे यहाँ क्यों आया और गालियाँ दी थी अब मैं तुम्हें देखूंगा। ऐसा कहकर रामलाल को पन्नालाल ने दो थप्पड़ मारे एवं उसक हाथ में जो डंडा था उससे दो डंडे भी पीठ पर मारे। चाटें गाल पर मारे। हीरालाल ने घटना देखी व डर के मारे भाग गया।

आरक्षी केन्द्र कोतवाली पर 6.30 बजे जाकर रिपोर्ट की थी जो प्रदर्श पी. 1 है। पुलिस ने प्रकरण न्यायालय में प्रस्तुत किया। उभयपक्षों की साक्ष्य रिपोर्ट हुई वह इस प्रकार है।

अभियोजन साक्षी क्रमांक-1 रामलाल :- प्रथम सूचना रिपोर्ट पी.1 सिद्ध की है व साक्ष्य भी उसी अनुरूप दी है। प्रतिपरीक्ष्ण में वह कहता है कि हीरालाल को भी मारने हेतु हाथ उठाया था यह बात पुलिस को बता दी थी लेकिन पुलिस कथन डी–1 से क्यों नहीं है, पता नहीं।

अभियोजन साक्षी क्रमांक-2 हीरालाल :- उसने कहा है कि घटना उसके सामने नहीं हुई। वह तो रामलाल के साथ चहल कदमी अवश्य कर रहा था लेकिन उसके सामने मारपीट नहीं हुई उसका यह कहना है कि मारपीट की बात रामलाल ने उसके घर आकर रात 8 बजे बताई थी। आगे यह भी कहा है कि प्रदर्श डी–2 में उसने अपने कथन में यह नहीं बताया था कि उसने घटना देखी है। उसका यह भी कहना है कि न्यायालय में बताई जाने वाली समस्त बातें पुलिस को बताई थी लेकिन पुलिस ने ये सब बातें क्यों नहीं लिखी उसे पता नहीं है।

अभियोजन साक्षी क्रमांक-3 डॉ. शर्मा :- डॉ. शर्मा ने अपने कथन में कहा है कि उसने रामलाल का परीक्षण किया था तो रीढ़ की हड्डी का अस्थिभंग पाया था व गालों पर लालिमा थी। परीक्षण 7 बजे किया था। प्रदर्श पी–2 है। प्रतिपरीक्षण में डॉ. शर्मा ने कहा है कि गिरने से पीठ की रीढ़ की हड्डी टूट सकती है तथा गालों पर स्वयं ऐसी चोट पहुँचाई जा सकती है। डंडे से पीठ पर चोट आ सकती है।

अभियोजन साक्षी क्रमांक 4 धन्नालाल :- उसका कहना है कि प्रदर्श पी.3 द्वारा आरोपी पन्नालाल को पुलिस ने गिरफ्तार किया था। ए से ए धन्नालाल के व बी से बी उसके हस्ताक्षर है। पी–2 का मेडिकल परीक्षण हेतु मांग पत्र डाक्टर को भेजा था।

अभियोजन साक्षी क्रमांक 5 रामसिंह नगर निरीक्षक :- उसका कहना है कि प्रदर्श पी.1 की रिपोर्ट रामलाल ने लिखाई थी अ से अ रामलाल के व ब से ब उसके हस्ताक्षर हैं। डी-1 व डी-2 के कथन साक्षीगणों ने कहे अनुसार लिखे थे। पी-3 के द्वारा आरोपी को उसने धन्नालाल के सामने गिरफ्तार किया था। ए से ए धन्नालाल के व बी से बी उसके हस्ताक्षर हैं। पी-2 का मेडिकल परीक्षण हेतु मांग पत्र डाक्टर को भेजा था।

आरोपी परीक्षण

आरोपी क्रमांक .....

नाम आरोपी..... आत्मज.....

आयु ..... न्यायालय द्वारा अनुमानित आयु.....

व्यवसाय ..... निवास स्थान .....

निम्न तथ्य तुम्हारे विरूद्ध आते हैं प्रत्येक प्रश्न पर तुम्हारा क्या कहना है।

प्रश्न क्र. 1 : घटना 01–01–97 की संध्या 7 बजे नेहरू पार्क इन्दौर की है तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर

प्रश्न क्र. 2 : अभियोजन साक्षी (अ. सा.) रामलाल एवं अ.सा. 2 हीरालाल बगीचे में घूम रहे थे। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 3 : बगीचे में तुम पन्नालाल उस समय आए जब साक्षी अ. सा. 1 रामलाल एवं अ. सा. 2 हीरालाल घूम रहे थे। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 4 : तुम्हारे हाथ में डंडा था। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 5 : तुमने रामलाल को कहा था कि तुम उसके यहाँ कल क्यों आए थे एवं गालियाँ दी थी तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 6 : तुमने रामलाल को यह भी कहा था कि वह देख लेगा तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 7 : तुमने रामलाल को थप्पड़ मारे थे वह डंडे से भी मारा था तो रामलाल को उपहति कैरित हुई थी तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 8 : अ. सा. 1 रामलाल का कहना है कि हीरालाल अ.सा-2 ने घटना घटित होते घटनास्थल पर देखा था। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 9 : अ. सा. 1 रामलाल एवं अ.सा. 5 रामसिंह अनुसंधानकर्ता अधिकारी नगर निरीक्षक ने प्रथम सूचना रिपोर्ट प्रदर्श पी.–1 तुम्हारे विरूद्ध पंजीकृत करवाई थी। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 10 :अ. सा. 2 डॉ. शर्मा का कहना है कि रामलाल अ.सा. 1 ने उसके घर संध्या 8 बजे आकर बताया था कि उसके साथ तुमने मारपीट की थी तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 11 :अ.सा. 2 डॉ. शर्मा द्वारा किए गए रामलाल के चिकित्सीय परीक्षण से पाया था कि रामलाल की पीठ की हड्डी टूटी थी व गालों पर लालिमा थी। तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 12 :अ.सा. 2 डॉ. शर्मा द्वारा किए गये रामलाल के चिकित्सीय परीक्षण का प्रतिवेदन प्रदर्श पी. 2 है। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 13 :अ.सा. 4 धन्नालाल एवं अ.सा.5 रामसिंह नगर निरीक्षक अनुसंधान अधिकारी का कहना है कि तुम्हें पुलिस ने प्रदर्श पी.3 का पंचनामा बनाकर गिरफ्तार किया था तुम्हें क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 14 :अ.सा. 5 रामसिंह नगर निरीक्षक एवं अनुसंधान अधिकारी का कहना है कि प्रदर्श पी.2 का रामलाल का चिकित्सीय परीक्षण मांग पत्र डॉक्टर को भेजा था तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 15 :अ.सा. 1 रामलाल अ.सा. 2 हीरालाल तुम्हारे विरूद्ध क्यों बोलते हैं ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 16 :अ.सा. 3 डॉ. शर्मा अ.सा. 4 धन्नालाल, अ.सा.5 नगर निरीक्षक एवं अनुसंधान अधिकारी रामसिंह तुम्हारे विरूद्ध यदि बोलते हैं तो क्यों बोलते हैं ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 17 :प्रतिरक्षा में तुम्हें साक्ष्य देना है ?

उत्तर :

अन्य प्रकार के संभाव्य प्रश्न

प्रश्न क्र. 1 :परिवादी रामलाल अ.सा. 1 के शरीर पर धारदार एवं बोथरे आयुध से 10 उपहतियाँ आई थी तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 2 :एफ.एल.रिपोर्ट प्रदर्श पी. 3 के अनुसार आयुध चाकू (वस्तु–सी) तथा लाठी (वस्तु–डी) पर मनुष्य रक्त के दाग थे। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 3 : परिवादी रामलाल अ.सा. 1 का चिकित्सीय परीक्षण डॉ. शर्मा अ.सा. 2 ने किया था एवं अपना प्रतिवेदन प्रदर्श पी.2 का दिया था तुम्हारा क्या कहना है ?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 4 : एफ.एस.एल. रिपोर्ट प्रदर्श पी. 3 है जिसके अनुसार परिवादी की चड्डी (वस्तु अ), बनियान (वस्तु ब) पर मनुष्य रक्त के दाग थे तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 5 : एफ.एस.एल. रिपोर्ट प्रदर्श पी. 3 के अनुसार आयुध चाकू (वस्तु–सी) तथा लाठी (वस्तु–डी) पर मनुष्य रक्त के दाग थे। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 6 :एफ.एस.एल. रिपोर्ट प्रदर्श पी–4 है। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 7 : प्रदर्श पी.5 द्वारा एफ.एस.एल. विभाग ने प्रदर्श पी–4 में उल्लेखित वस्तुऐं (ए,बी,सी,डी) सिरॉलॉजिस्ट विभाग को जाँच हेतु भेजी थी। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 8 : प्रदर्श पी–6 सिरॉलॉजिस्ट रिपोर्ट है जिसके अनुसार चड्डी (वस्तु–अ) बनियान (वस्तु–बी) पर रक्त वर्ग ओ के दाग अवस्थित थे। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 9 : प्रदर्श पी–6 सिरॉलॉजिस्ट रिपोर्ट के अनुसार चाकू (वस्तु–सी) एवं लाठी (वस्तु–डी) पर रक्त के दाग विदीर्श (डिस्टइंटिग्रेटेड) हो गए थे। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 10: अ.सा.क्र. 1 रामलाल अ.सा.2 हीरालाल एवं अ.स.10 रामसिंह अनुसंधान अधिकारी का कहना है कि तुम आरोपी पन्नालाल ने निरोधित स्थिति में बताया था कि तुमने चाकू को अपने घर के अंदर गेहूं की काठी में छुपा के रखा है, चलकर जप्त करवा देगा। जिस बाबत पंचनामा प्रदर्श पी.10 बनाया गया था। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र. 11 :अ.सा. 1 रामलाल अ.सा.2 हीरालाल एवं अ.सा. 10 रामसिंह अनुसंधान अधिकारी का कहना है कि तुम आरोपी पन्नालाल ने एक चाकू (वस्तु–क) को अपने घर से गेहूं की कोठी में से निकाल कर जप्त करवा दिया जिस पर रक्त के चिन्ह थे। इस संबंध में पंचनामा प्रदर्श पी–11 बनाया गया था। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र.12 : अ.सा. 9 तहसीलदार सिंह, नायब तहसीलदार का कहना है कि उसने रामलाल (मृतक) का मृत्यु कालिक कथन लिपिबद्ध किया था जिसमें उसने कहा था कि (संक्षिप्त हो तो पूर्ण लिखें एवं विस्तारयुक्त हो तो साररूप में लिखें) जो प्रदर्श पी.12 है। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर

प्रश्न क्र.13 : अ. सा. 1 रामलाल का कहना है कि घटना स्थल जहाँ मारपीट हुई थी का नक्शा प्रदर्श पी-13 उसके द्वारा दर्शित विवरण के आधार से अ.सा. -2 हीरालाल पटवारी द्वारा बनाया गया था। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

प्रश्न क्र.14 : अ. सा. 2 हीरालाल पटवारी का कहना है कि घटना स्थल जहाँ मारपीट होना कहा जाता है, का प्रदर्श पी. 13 का नक्शा उसने अ.सा. 1 रामलाल द्वारा दर्शित विवरण के आधार से बनाया था। तुम्हारा क्या कहना है?

उत्तर :

धारा 281 - अभियुक्त की परीक्षा का अभिलेख :-

(1) जब कभी अभियुक्त की परीक्षा किसी महानगर मजिस्ट्रेट द्वारा की जाती है तो वह मजिस्ट्रेट अभियुक्त की परीक्षा के सारांश का ज्ञापन न्यायालय की भाषा में तैयार करेगा और ऐसे ज्ञापन पर मजिस्ट्रेट हस्ताक्षर करेगा और वह अभिलेख का भाग होगा।

(2) जब कभी अभियुक्त की परीक्षा महानगर मजिस्ट्रेट से भिन्न किसी मजिस्ट्रेट या सेशन न्यायालय द्वारा किया जाती है तब उससे पूछे गए प्रत्येक प्रश्न और उसके द्वारा दिए गए प्रत्येक उत्तर सहित ऐसी सब परीक्षा स्वयं पीठासीन न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट द्वारा या जहां वह किसी शारीरिक या अन्य असमर्थता के कारण ऐसा करने में असमर्थ है, वहां उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त न्यायालय के किसी अधिकारी द्वारा उसके निदेशन और अधीक्षण में पूरे तौर पर अभिलिखित की जायेगी।

(3) अभिलेख, यदि साध्य हो तो, उस भाषा में होगा जिसमें अभियुक्त की परीक्षा की जाती है या यदि वह साध्य न हो तो न्यायालय की भाषा में होगा।

(4) अभिलेख अभियुक्त को दिखा दिया जाएगा या उसे पढ़कर सुना दिया जायेगा या यदि वह उस भाषा को नहीं समझता है जिसमें यह लिखा गया है तो उसका भाषान्तर उसे उस भाषा में, जिसे वह समझता है, सुनाया जायेगा और वह अपने उत्तरों का स्पष्टीकरण करने या उनमें कोई बात जोड़ने के लिए स्वतन्त्र होगा।

(5) तब उस पर अभियुक्त और मजिस्ट्रेट या पीठासीन न्यायाधीश अपने हस्ताक्षर से प्रमाणित करेगा कि परीक्षा उसकी उपस्थिति में की गई थी और उसने उसे सुना था और अभिलेख में अभियुक्त द्वारा किए गए कथन का पूर्ण और सही वर्णन है।

(6) इस धारा की कोई बात संक्षिप्त विचारण के अनुक्रम में अभियुक्त की परीक्षा को लागू होने वाली न समझी जाएगी।

धारा 313 : अभियुक्त की परीक्षा करने की शक्ति -

(1) प्रत्येक जाँच या विचारण में, इस प्रयोजन से कि अभियुक्त अपने विरूद्ध साक्ष्य में प्रकट होने वाली किन्हीं परिस्थितियों का स्वयं स्पष्टीकरण कर सके, न्यायालय–

(क) किसी प्रक्रम में, अभियुक्त को पहले से चेतावनी दिये बिना, उससे ऐसे प्रश्न कर सकता है जो न्यायालय आवश्यक समझे।

(ख) अभियोजन के साक्षियों की परीक्षा किये जाने के पश्चात् और अभियुक्त से अपनी प्रतिरक्षा करने की अपेक्षा किये जाने के पूर्व उस मामले के बारे में उससे साधारणतया प्रश्न करेगा। परन्तु किसी समन–मामले में, जहाँ न्यायालय ने अभियुक्त को वैयक्तिक हाजिर से अभिमुक्त दे दी है, वहाँ वह खण्ड (ख) के अधीन उसकी परीक्षा से भी अभिमुक्ति दे सकता है।

(2) जब अभियुक्त की उपधारा (1) के अधीन परीक्षा की जाती है तब उसे कोई शपथ न दिलाई जायेगी।

(3) अभियुक्त ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने से इन्कार करने से या उनके मिथ्या उत्तर देने से दण्डनीय न हो जायेगा।

(4) अभियुक्त द्वारा दिये गये उत्तरों पर उस जाँच या विचारण किया जा सकता है और किसी अन्य ऐसे अपराध की, जिसका उसके द्वारा किया जाना दर्शाने की उन उत्तरों की प्रवृत्ति हो, किसी अन्य जाँच या विचारण में ऐसे उत्तरों को उसके पक्ष में या उसके विरूद्ध साक्ष्य के तौर पर रखा जा सकता है।

धारा 314 - मौखिक बहस और बहस का ज्ञापन -

(1) कार्यवाही का कोई पक्षकार, अपने साक्ष्य की समाप्ति के पश्चात् यथा–शक्य शीघ्र संक्षिप्त मौखिक बहस कर सकता है और अपनी मौखिक बहस, यदि कोई हो पूरी करने के पूर्व, न्यायालय को एक ज्ञापन दे सकता है जिसमें उसके पक्ष में समर्थन में तर्क संक्षेप में और सुभिन्न शीर्षकों में डाल दिए जाएंगे और सुभिन्न शीर्षकों में दिए जाएंगे, और ऐसा प्रत्येक ज्ञापन अभिलेख का भाग होगा।

(2) ऐसे प्रत्येक ज्ञापन की एक प्रतिलिपि उसी समय विरोधी पक्षकार को दी जाएगी।

(3) कार्यवाही का कोई स्थगन लिखित बहस फाईल करने के प्रयोजन के लिए तब तक नहीं दिया जायगा जब तक न्यायालय ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, ऐसा स्थगन मंजूर करना आवश्यक न समझे।

(4) यदि न्यायालय की यह राय है कि मौखिक बहस संक्षिप्त या सुसंगत नहीं है तो वह ऐसी बहसों को विनियमित कर सकता है।

अपराधिक प्रकरणों में चक्षुदर्शी साक्षी के साक्ष्य का मूल्यांकन

टी.सी. यदु
अति. जिला एवं सत्र न्यायाधीश,
बिलासपुर

"आँखों देखा गवाह" अर्थात चक्षुदर्शी साक्षी वह होता है जिसके दृष्टव्य में अपराध होता है। आहत व्यक्ति तो चक्षुदर्शी साक्षी होते ही हैं साथ ही इनके साथ जब घटना होती तब उसे देखने वाला व्यक्ति भी चक्षुदर्शी होता है।

साक्षियों के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय का यह अभिमत है कि जब कोई व्यक्ति शपथ पर कुछ कथन करता है तब उसके कथनों पर तब तक अविश्वास नहीं किया जाना चाहिये जब तक कि किन्हीं आयामों में उसे अविश्वास के योग्य होना परिलक्षित न कर दिया जाये।

दण्ड प्रक्रिया संहिता में किसी अपराध के अनुसंधान की विधि एवं प्रक्रिया बताई गई है। जिसके अनुसार अपराधों का अनुसंधान तब से प्रारंभ होता है जब किसी संज्ञेय अपराध की प्रथम सूचना आरक्षी केन्द्र पर पंजीकृत कराई जाती है। उसके बाद अनुसंधान की विभिन्न कड़ियों में पुलिस द्वारा दंण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अंतर्गत साक्षीगण के कथन लेखबद्ध करने की स्थिति आती है। दंड प्रक्रिया संहिता 1973 में चक्षुदर्शी साक्षियों के लिये यह निर्देश विधायिका द्वारा दिया गया है कि वह पुलिस को जो कुछ देखा है और जानता है उसका सही--सही उत्तर देते हुए कथन करे। इसी निर्देश के कारण आज चक्षुदर्शी साक्षियों के न्यायालयीन कथनों एवं पुलिस के समक्ष किए गए कथनों में आने वाले विरोधाभास एवं विलोप का महत्व बढ़ गया है। आहत व्यक्ति के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्देश है कि उन्हें अपने संबंध में हुई घटना की यथा संभव शीघ्र रिपोर्ट आरक्षी केन्द्र पर पंजीकृत करना चाहिये। उसमें उनके द्वारा विलम्ब किया जाना पर्याप्त स्पष्टीकरण के अभाव में उनके आचरण को संदेह के घेरे में लाता है।

चक्षुदर्शी साक्षीगणों के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय का यह अभिमत है कि उन्हें पुलिस कार्यवाही होने पर यथा संभव शीघ्र पुलिस के समक्ष आकर अपना कथन दर्ज कराना चाहिये। अनुसधानकर्ता पुलिस अधिकारी के लिये सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्देश है कि उन्हें जैसे ही ज्ञात हो की किसी अपराधिक घटना का कोई चक्षुदर्शी साक्षी है तो उन्हें उनका शीघ्रता से कथन लिपिबद्ध करना चाहिये। इसमें होने वाले विलम्ब

से चक्षुदर्शी साक्षी के कथनों एवं अनुसंधान की विश्वसनीयता पर्याप्त कारण न होने पर संदेह के घेरे में आ जाती है।

अपराधिक मामले के विचारण के समय विचारण न्यायालय के पीठासीन न्यायाधीश को गंभीर न्यायिक दायित्व का निर्वहन करना होता है। न्यायिक कार्यवाही का उद्देश्य "लोक अपराध" के लिये दंड दिया जाना होता है। इसलिये अपराधिक मामले के विचारण को यथेष्ट नियंत्रण के साथ सजगता बरतनी चाहिये। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि या गंभीर भूल करने पर न्यायाधीश की सेवा संबंधी मूल्यांकन एवं विश्वसनीयता खतरे में पड़ जाती है। न्यायाधीश पर जहां सर्व सामान्यजन की दृष्टि जमी होती है वहीं उन पर वरिष्ठ न्यायाधीशों की सूक्ष्म दृष्टि भी लगी रहती है। इसीलिये न्यायाधीश का संपूर्ण जीवन एवं उसके द्वारा अप[illegible]जा रही न्यायालयीन कार्यवाही व गतिविधि पूर्ण पारदर्शी होनी चाहिये।

आहत व्यक्ति एवं चक्षुदर्शी साक्षियों के कथनों के समय उनके साक्षीगणों के मूल्यांकन के मापदंडों से संबंधित बातों पर न्यायाधीश को विशेष दृष्टि रखते हुये साक्षी का परीक्षण होने देना चाहिये। और अभियोजन या बचाव पक्ष उक्त संबंधों में जहां भी कोई चूक जानबूझकर या अनजाने में जैसे भी करे तो वहां न्यायाधीश को स्वयं साक्षी से प्रश्न कर उसका उत्तर अंकित करा लेना चाहिये। क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय का यह कहना है कि न्यायाधीश न्यायिक कार्यवाही के समय केवल मौन दृष्टा ही नहीं वरन वह पूरी तरह सजीवता से किसी प्रकरण के संपूर्ण विचारण पर, अपने संपूर्ण ज्ञान चक्षु से नियंत्रण एवं संचालन करने वाला न्यायाकर्ता है। जिसके ऊपर सहीं एवं वास्तविक न्याय करने की अपूर्व जिम्मेदारी होती है।

अनुसंधानकर्ता पुलिस अधिकारी, आहत व्यक्ति एवं चक्षुदर्शी साक्षी सभी मानव है अतः स्वाभाविक मानवीय त्रुटियां सभी से संभव है। इसीलिये सर्वोच्च न्यायालय का यह अभिमत है कि अनुसंधान, विचारण या साक्षियों द्वारा किये गये कथनाकनों की कोई सामान्य त्रुटि किसी मामले की मूल स्थिति को उलटती नहीं है। और किसी आपराधिक मामले को मात्र इस कारण अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अभियोजन एक स्पष्ट कहानी लेकर न्यायालय में नहीं आया है। आपराधिक मामले में अभिलेख में आये साक्ष्य को न्यायाधीश द्वारा चिंतन करके उसमें से सत्य एवं झूठ को पृथक–पृथक करना चाहिये। किसी चक्षुदर्शी साक्षी का कथन इतना अधिक विरोधाभासी, विलोप एवं विसंगति युक्त हो कि यदि उसमें से सत्य और असत्य का अलगाव संभव ही न हो तो ऐसी दशा में सर्वोच्च न्यायालय का यह अभिमत है कि ऐसे साक्षी के संपूर्ण कथन को ही निरस्त (तिरस्कृत) कर दिया जावे। किन्तु यदि कोई साक्षी एक बात पर झूठा एवं कुछ एक बात पर सच्चा लगे तो उसके संपूर्ण कथन को तिरस्कृत

नहीं किया जा सकता अपितु उसके सत्य पूर्ण परिलक्षित कथनों पर, यदि संपुष्टिकारक साक्ष्य के अभाव में विश्वास किया जा सकता हो तो बिना संपुष्टिकारक साक्ष्य के ही विश्वास किया जाना चाहिए।

छोटे या बड़े सभी आपराधिक मामलों में प्रथम सूचना पत्र एवं धारा 161 दं.प्र. सं. के अंतर्गत लिया गया कथन महत्वपूर्ण होता है किन्तु यह इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता कि इन्हें "सारवान साक्ष्य" माना जावे। सर्वोच्च न्यायालय का यह अभिमत है कि सारवाना साक्ष्य वह होता है जो विचारण के समय न्यायालय में शपथपूर्ण कथन करके प्रस्तुत किया जावे।

प्रथम सूचना पत्र के संबंध में यह कहा गया है कि यह कोई विश्वकोश "इनसाईक्लोपीड़िया" नहीं होता कि इसमें अपराध एवं इसकी घटना का संपूर्ण विवरण हो इसीलिये इसका प्रयोग इसे दर्ज कराने वाले से भिन्न साक्षी के कथनों की विश्वसनीयता को परखने के लिये नहीं किया जा सकता इसका प्रयोग केवल इसके दर्ज कराने वाले एवं इसे लिखने वाले के न्यायालयीन कथनों में विरोधाभास या विलोप लाने एवं प्रमाणित करने में किया जाता है। इसका प्रयोग प्रथम सूचना पंजीकृत कराने वाला यदि आहत व्यक्ति हो तो उसके न्यायालय में हुए कथनों की संपुष्टि में किया जा सकता है और यह लिखा जा सकता है कि आहत व्यक्ति का न्यायालयीन कथन उसके द्वारा दर्ज कराये गये प्रथम सूचना पत्र से संपुष्ट होता है।

धारा 161 दं.प्र.सं. का कथन किसी साक्षी के पुलिस के समक्ष दिये गये कथनों का सारांश होता है। यह न्यायालय में हुए साक्ष्य का स्थान नहीं ले सकता इसमें सामान्य या तुच्छ विरोधाभास एवं विलोप स्वाभाविक है। किसी चक्षुदर्शी साक्षी के संपूर्ण कथन को उसके धारा 161 के तहत लिये गये कथन में आए विरोधाभास एवं विलोप के अकेले के आधारों पर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। चक्षुदर्शी साक्षी के कथनों की विश्वसनीयता जांचने के लिये विचारण न्यायालय ही सर्वाधिक सक्षम माना गया है। इसीलिये तथ्यों के संबंध में विचारण न्यायालय का निष्कर्ष अपील में भी हस्तक्षेप योग्य नहीं होता।

प्रथम सूचना पत्र के विलंब एवं विरोधाभास तथा विलोपों के बारे में समाधान कारक स्पष्टीकरण हो तो इन्हें आहत व्यक्ति के न्यायालय में हुये कथनों को तिरस्कृत करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। आहत व्यक्ति का अभियुक्त से पूर्ववर्ती रंजिश हो सकती है और उनके रिश्तेदार अभियोजन के लिये हितबद्ध साक्षी भी हो सकते हैं। किन्तु मात्र इन्हीं कारणों से इनका संपूर्ण न्यायालयीन कथन तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। ***दर्या सिंह विरुद्ध स्टेट, ए.आय.आर. 1965 सु. को. 328 (331)***।

काल्पनिक आधारयुक्त संभावनाओं से हटकर यदि साधारण मानवीय संभावनाओं की दृष्टि से जांच परख करने के बाद भी किसी चक्षुदर्शी साक्षी का कथन अविश्वसनीय परिलक्षित न हो, तो उसके कथनों पर विश्वास करते हुये अभियुक्त को दोषी ठहराया जाना चाहिये।

शरीर संबंधी अपराधों के लिये हत्या के मामले को छोड़कर यदि आहत एवं क्षुब्ध व्यक्ति का न्यायालय में कथन, चिकित्सीय साक्ष्य से संपुष्टित हो और अभियुक्त से उसकी दुश्मनी इस हद तक न हो कि वह बनावटी मामला लाकर अभियुक्त को दंडित करावें तो उसके कथनों पर विश्वास किया जा सकता है। यदि उसके कथन प्रथम सूचना पत्र या धारा 161 के तहत लिये कथनों से इस हद तक विरोधाभास एवं विलोप वाला न हो कि उन्हीं आधारों पर उसके कथन को तिरस्कृत करना अनिवार्य हो जाये, उसके कथनों पर विश्वास किया जाना चाहिये। हत्या के मामले में मृत व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता इसलिये मृतक का रिश्तेदार महत्वपूर्ण होता उसकी इच्छा यह होती है कि उसके संबंधी की जान लेने वाले को उचित दंड मिले इसीलिये जब तक उसके संपूर्ण परीक्षण से यह पता न चले की चक्षुदर्शी साक्षी न होते हुये भी वह मात्र इसलिये अपने आपको चक्षुदर्शी होना निरूपित कर रहा है कि अभियुक्त को ऐन–केन प्रकरेण सजा दिलाई जा सके तब तक उसके कथन पर अनुमानों के आधार पर अविश्वास नहीं किया जाना चाहिये।

घटनास्थल पर चक्षुदर्शी साक्षी की उपस्थिति जब तक असंभव या अस्वाभाविक प्रमाणित नहीं करा दी जावे उसके कथन के आधार पर यह माना जाना चाहिये कि वह घटनास्थल पर था। संपूर्ण वारदात के संबंध में चक्षुदर्शी साक्षी का ब्योरेवार संपूर्ण विवरण न दे पाना इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि मात्र इन्हीं आधारों पर उसका संपूर्ण कथन अस्वीकार कर दिया जावे। तथापि यदि चक्षुदर्शी साक्षी का कथन बे–सिर पर का अर्थात (बांल्ड स्टेटमेंट) हो तो उसके ऐसे कथनों पर चाहे उनकी संख्या कितनी भी क्यों न हो विश्वास किया जाकर अभियुक्त को दोषी ठहराया जाना विधिक दृष्टि से सुरक्षित नहीं है। चक्षुदर्शी साक्षियों का कथन "बाल्ड स्टेटमेंट" है या स्पष्टिकर्णात्मक "सेल्फ एक्सप्लेनेटरी स्टेटमेंट" है यह न्यायाधीश को अपने न्यायिक ज्ञान चक्षु से परख लेना चाहिए। चक्षुदर्शी साक्षी के न्यायालय में कथन पूर्ण होते ही यदि न्यायाधीश मानवीय चेतनाओं से ओत प्रोत है तो यह जान सकता है कि उसने जो कुछ न्यायालय में कहा है वह सत्याभाषी है अथवा झूठ का पुलिन्दा है।

उद्धरित न्याय दृष्टांत (रिपोर्टेड केसेस) केवल एक उदाहरण स्वरूप होता है। वह पूर्व के न्याय दृष्टांतों के ऊपर अपील की तरह नहीं होता। क्योंकि तथ्यों के संबंध में कोई भी दो मामले समदृश्य नहीं होते। प्रत्येक केस (प्रकरण) का अपना अलग

तथ्य होता है इसीलिये तथ्यों के संबंध में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत न्याय दृष्टांतों को लागू किया जाना हमेशा जोखिम युक्त रहता है।

न्याय के बारे में यह कहावत है कि "जस्टिज डिलेड़ इज जस्टिस डिनाइड" "जस्टिस हरीड़ इज जस्टिस बरीड़"। अतः न्यायाधीश को सदैव मध्य मार्ग न्याय करने में अपनाना चाहिये। अर्थात न तो इतने उतावलेपन, हड़बड़ी या बैचेनी से धारणा मनोदशा बनाना चाहिए कि उसके बाद किया गया न्याय "जस्टिस हरीड़ इज जस्टिस बरीड़" जैसे लगे और नही न्याय देने के लिये धारणा मनोदशा बनाने में इतना अधिक विलंब करना चाहिए कि कालान्तर में दिया गया न्याय "जस्टिस डिलेड़ इज जस्टिस डिनाईड" के समान हो जावे। सारांश यह है कि न्याय उस समय तक हो ही जाना चाहिये जब तक कि उसकी सुसंगतता, उपयुक्त सार्थकता, सामयिकता एवं महत्व बना रहे। न्याय यदि उस समय किया गया जब कि उसकी ओर ध्यान देने वाला कोई नहीं है तब ऐसे में किया गया न्याय निरर्थक है।

उच्चतम न्यायालय ने ***शिवनारायण पासवान वि. बिहार राज्य ए.आय.आर. 1987 एस.सी. 877*** में कहा है कि यह विधि का सुस्थापित सिद्धांत है कि अपराधिक कार्यवाहियां व्यक्तिगत क्षति के लिये बदला लेने हेतु ही नहीं है परन्तु यह समाज के हित में अपराधियों को दंडित किये जाने के उद्देश्य से संस्थित की जाने वाली कार्यवाही भी है। समाज में व्यवस्थित ढ़ग से स्थायित्व बनाये रखने के लिये परिभाषित कृत्यों को अपराध घोषित किया गया है और अपराध विधि को गति में लाने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को इसलिये दिया गया है कि अपराधियों को दंड के घेरे में निश्चित रूप से लाया जा सके।

यद्यपि निर्दोष लोगों के प्रति सावधानी के परिप्रेक्ष्य में यह देखना आवश्यक है कि "कोई दोषी भले ही छूट जावे परन्तु एक निर्दोष व्यक्ति का सजा नहीं होनी चाहिये।" तथापि न्यायालयों का यह भी गुरूत्तर दायित्व है कि कोई अपराधी दंड से बच न जावे यह भी देखें।

सारांश में यह कि न्यायाधीश सर्वसामान्य से हट कर एक सीमा के भीतर ही दया, क्षमा भावना आदि से अभिप्रेत रह सकता है। वह सामान्य जन की तरह आक्रोश या भावनाओं में बहकर कोई कार्य नहीं कर सकता।

न्याय करना एक कार्य करना मात्र नहीं है अपितु पूजा है जिसमें प्रेरणा श्रद्धा एवं विश्वास होना आवश्यक है।

ऐसा क्यों?

व्यथा एक स्वर्णकार की

एक पिता के दो पुत्र थे। संपन्न परिवार था। पिता के पास दायाधिकार से विपुल संपत्ति प्राप्त हुई। स्वाभाविक रूप से संपत्ति के विवाद चलते रहे। बड़े भाई व छोटे भाई के बीच भी यह संपत्ति विवाद का कारण रही। छोटा लड़का कुसंगति में आ गया। घर से आभूषण आदि ले जाकर बाजार में बेचना चालू किया तो बड़े भाई ने आरक्षी केन्द्र पर रिपोर्ट की। पुलिस केस बन गया। सुनार के यहां से वे स्वर्ण–रजत आभूषण जप्त हो गये थे जो बेचे गये थे। यह कहानी सुनाने वाले साहेब को मैने पूछा फिर आगे क्या हुआ तो उन्होंने कहानी को नया मोड़ दिया व अपराधिक कहानी की ओर मुड़ गये। वे कहने लगे फिर क्या होता है? न्यायालय में अपराधिक प्रकरण प्रारंभ हुआ जिसमें बड़े बेटे ने छोटे बेटे के विरुद्ध साक्ष्य दी। प्रकरण में अंतिम तर्क सुने गए व प्रकरण निर्णय के लिए निर्धारित हुआ। मैं काफी समय से साहेब के पास बैठा था तो सोचा अब चला जावे देर हो जाएगी। मैं उठते–उठते कहने लगा सर मैं सोचता हूं कि प्रकरण में सजा अवश्य होगी। ऐसा कहकर कक्ष के बाजू में उतारे जूतों को पहनने को हुआ कि साहेब ने कहा अभी रूको कहानी की रहस्यात्मक बात बता रहा हूं। चूंकि साहेब वरिष्ठ थे तो उनका कहना वैसे भी मानना था। उन्होंने अब कहानी का रहस्य खोलना प्रारंभ किया। दिल थाम कर बैठा था कि अब क्या होगा, अब क्या होगा।

कहने लगे कि निर्णय तिथि के पूर्व संध्या को ही अभियुक्त की ओर से एक आवेदन पत्र धारा 311 द.प्र.स. के अंतर्गत प्रस्तुत हुआ एवं कहा गया कि बड़े भाई को, संयुक्त परिवार व संपत्ति विभाजन संबंधी, प्रश्न पूछने के रह गए हैं पुनः प्रतिपरीक्षण हेतु आहूत किया जावे। न्यायालय ने शीघ्र, सस्ता व सुलभ न्याय के सिद्धांत के आधार से अविलंब आवेदन पत्र स्वीकार कर लिया। बड़े भैया साक्ष्य में आए आगे प्रतिपरीक्षण हुआ। बड़े भैया ने स्वीकार किया कि अभी पिता–पुत्रों में संपत्ति का विभाजन नहीं हुआ है तथा जो आभूषण सुनार को विक्रय किए गए वह परिवार की

सहमति से परिवार के खर्चे चलाने हेतु बेचे गए थे। प्रतिरक्षा में अभियुक्त ने पिताजी को प्रस्तुत किया जिन्होनें भी बड़े लड़के के कथनों का समर्थन किया। अंतिम तर्क भी उसी दिन सुना दिए गए। चूंकि दूसरे दिन माह समाप्त होने वाला था व कार्य यूनिट्स कुछ कम पड़ रहे थे तो मजिस्ट्रेट महोदय ने प्रकरण निर्णय के लिए दूसरे दिन हेतु निर्धारित कर दिया। निर्णय द्वारा अभियुक्त को दोष मुक्त कर दिया।

अब तक काफी समय हो गया था। उक्त कहानी में मुझे कोई रहस्यात्मक, गुणात्मक अथवा अनिष्ठात्मक बात भी नहीं लगी। उफ! किया, घड़ी देखी व कहा, सर देर हो रही है आप भी व्यस्त होंगे व मुझे भी घर जाना है। सर ने घड़ी देखी, समय भी देखा व कहा कि कहानी का पटाक्षेप मात्र सुन लो। खड़े–खड़े ही उन्होंने कहा कि मॅजिस्ट्रेट साहेब ने निर्णय में संपत्ति निराकरण का आदेश दिया ही नहीं था यह बात उन्हें मालूम ही नहीं पड़ी। यह बात उन्हें तब मालूम पड़ी जब अभियुक्त ने एक आवदेन पत्र प्रस्तुत किया कि यह संपत्ति उसके पिता को लौटा दी जावे। सहज भाव से न्यायिक दंडाधिकारी महोदय ने आदेश कर दिया कि संपत्ति जो स्वर्णकार से जप्त हुई थी वह अभियुक्त के पिता की है उसे लौटाई जावे। इतने में टेलीफोन पर घंटी बजी तो मैंने सोचा स्कूल की छुट्टी की घंटी बजी। साहेब को नमस्कार किया। साहेब टेलीफोन सुनने चले गए। मैं सायकल उठा घर जाने लगा। रास्ते में सोचता रहा कि मॅजिस्ट्रेट का आदेश सही था या गलत। एक मन कह रहा था एकदम सही है जिसकी संपत्ति थी उसे वापस हो गई। दूसरा मन कह रहा था कि स्वर्णकार का क्या होगा जिसने आभूषण खरीदे थे व पिता पुत्र न्यायालय में यह साक्ष्य दे गए थे कि आभूषण सहमति से अभियुक्त ने बेचे थे। चिंतन पूर्ण कर भी नहीं पाया था कि घर आ गया। घर देरी से आने के कारण श्रीमती जी का रौद्र रूप देखकर घबरा गया था व सब बातें भूल गया। अब बहुत समय व्यतीत हो गया है इस विषय पर मैं नहीं सोच पा रहा हूँ। आशा करनी चाहिए कि हम आप दंड प्रक्रिया संहिता के पाठ 24 धारा 451 से 459 तक का समग्र अध्ययन करके आदेश देते रहेंगे। आप सोच विचार कर लेना अकेले शांति के साथ ही नहीं धीरज और विश्वास को साथ लेकर।

ऐसा क्यों?

व्यथा समान आशय एवं उद्देश्य की

संपत्ति वापसी की समस्या तो अनुत्तरित ही रही थी, उस पर विचार मंथन भी नहीं हो पाया था कि मुझे दूसरे ही दिन आदेश हुआ कि आकर मिलो। मैं स्वाभाविक रूप से घबराता हुआ, कि अब क्या भूल मेरे से हुई, माननीय न्यायाधिपति महोदय से मिलने गया। सादर नमस्कार अभिवादन पश्चात पूछा गया कि किसी प्रकरण में पांच या पांच से अधिक अभियुक्त हो तथा उनके विरुद्ध धारा 148 भा.द.वि. के अंतर्गत आरोप निर्मित करके धारा 148 सहपठित धारा 34 या 149 भा.द.वि. के अंतर्गत दंड दिया जा सकता है क्या? अथवा धारा 148 सहपठित धारा 34 या 149 भा.द.वि. के अंतर्गत ही आरोप निर्मित करके उन्हीं धाराओं में दंडित किया जा सकता है क्या? अचानक ही अनपेक्षित रूप से बुद्धिपरक आकस्मिक प्रश्न पूछ लेने के कारण चित्त ठिकाने पर नहीं था तो घबराहट में मैंने कह दिया कि देखना पड़ेगा। इतना कहते ही उन्होंने पुस्तक सामने रख दी। अब परिस्थिति बड़ी विकट हो गई थी सांप छछूंदर की स्थिति थी। कुछ पन्ने आगे पीछे किए सर खुजलाया व सोचा कि क्या होगा। माननीय महोदय ने मेरे को उत्तर देने में टेका लगाया व मेरे मुंह से उत्तर प्राप्त कर ही लिया कि धारा 147 व धारा 148 में क्या अंतर है, धारा 141 में विधि विरुद्ध समूह से आशय क्या है तथा समान आशय एवं सामान्य उद्देश्य का आशय एवं उद्देश्य क्या है।

मैंने सारभूत रूप से कहा कि धारा 141 के आधार से ही विधि विरुद्ध समूह के सदस्य होने के कारण धारा 147 में आरोप निर्मित हो सकता है व धारा 148 के अंतर्गत आरोप तब निर्मित हो सकता है जब उक्त धारा में वर्णित प्रकार के आयुध भी किसी अभियुक्त के पास हो व धारा 147 के अपराध के तत्व भी समाविष्ट होते हो। वे मेरे उत्तर से पूर्ण संतुष्ट नहीं थे। पूछने लगे कि प्रश्न ये था कि धारा 148 सपठित धारा 149 भा.द.वि. के अंतर्गत दंड दिया जा सकता है क्या? प्रकरण क्र क्या

तथ्य थे ये तो मुझे नहीं मालूम परंतु शैक्षिक उद्देश्य से मैंने कह दिया कि धारा 148 अपने आप में पूर्ण अपराध है व विशिष्ट अप्रराध के रूप में ही आरोप निर्मित हो सकता है व जिस किसी अभियुक्त के हाथ में घटना के समय परिभाषित आयुध रहे होंगे उसके विरुद्ध धारा 148 भा.द.वि. के अंतर्गत आरोपों से आरोपित कर दंडित किया जा सकता है तथा धारा 149 भा.द.वि. का जो कि एक सामर्थ्य कारी उपबंद्ध सृजित करती है की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। धारा 144 भा.द.वि. के अंतर्गत भी उस व्यक्ति के लिए दंड का प्रावधान है जो घातक आयुध से सज्जित होकर विधि विरुद्ध समूह में सम्मिलत हुआ था। अतः इसी सिद्धांत के आधार से धारा 148 सपठित धारा 34 भा.द.वि. के अंतर्गत भी दंड नहीं दिया जा सकता। अध्याय 8 भारतीय दंड संहिता "लोक प्रशन्ति के विरुद्ध अपराधों के विषय में" उल्लेख करता है। धारा 141 से 149 के मध्य के प्रावधान एक दूसरे से अंतर निर्भर व अंतर संबधित है। उसका अध्ययन हम आप के लिए बारीकी से करना सर्वथा उचित हो सकता है जिससे भूलों को न्यून किया जा सकता है।

COMPANION

Read and reread books while rereading one will learn how much one missed last time.

Literature is my Utopia. Here I am not disfranchised. No barrier of the senses shuts me out from the sweet, gracious discourse of my book friends. They talk to me without embrassment or awkwardness.

HELEN (ADAMS) KELLER

My books are friends that never fail me.

THOMAS CARLYLE

विभाग की छवि एवं विश्वसनीयता

व्ही. के. भल्ला
पूर्व डायरेक्टर जनरल, होम गार्डस्, मध्य प्रदेश

किसी भी संगठन को लेकर व उस संगठन में संलग्नता (involvement) व सम्बद्धता (commitment) रखते हुए हम जो व्यवहार करते हैं आइये, उस पर कुछ प्रकाश डाला जाए। जैसा कि मेरे पूर्व लेखों में आपको मार्गदर्शन दिया गया है कि एक न्यायिक अधिकारी होने के नाते आपका कार्य स्तर को इस प्रकार उजागर करना है जिससे कि लोगों की आस्था, न केवल न्याय प्रशासन प्रणाली में बनी ही रहे बल्कि वे हम सबके संयुक्त प्रयासों से सुदृढ़ भी होवें। सर्वप्रथम हमें भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं। आपसी मनमुटाव और वैमनस्यता, अहम् त्यागें और पूर्वग्रहों से मुक्त हों, भेदभाव एवं मतमतांतर की उलझनों में न पड़ें। आपसी तालमेल, सामंजस्य और सौहाद्रपूर्ण वातावरण बनाएँ रख आपसी स्पष्ट संभाषण (communication) बनाए रखे तब ही हमारे निर्णय तनाव से मुक्त हो विरोधाभासी न हो, बुद्धिमत्तापूर्ण होंगे।

हमें यह भलीभांति जानने की कोशिश करना चाहिए कि वास्तव में हमारी संस्था में हो रहे व्यवहार एवं स्वयं अपने व्यवहार को लेकर क्या हम सोचतें हैं? क्योंकि जैसी हमारी सोच होगी वैसे ही हमारी आशाएं, आकांक्षाएं होंगी और वैसा ही हम अपनी यूं सोच से अपना वातावरण और अपने कर्म हम निर्मित करते हैं। इसका सीधा प्रभाव हमारी कार्य पद्धति और प्रभावशीलता पर पड़ता है। मैं आपके सामने यह चुनौती रखता हूं कि आपका यह प्रभाव वास्तविक यूं पड़े कि आप मात्र सिर्फ एक सफल न्यायिक अधिकारी के रूप में ही न जाने जाए बल्कि समूचे न्याय प्रशासन में एक अत्यावश्यक, स्थाई और दीर्घकालीन प्रभाव रखने वाले व्यक्ति की छवि बनायें। संगठन के लक्षणों को पूरा करना और उसके उद्देश्यों को लेकर यूं कार्य करें कि जिस तंत्र में आप कार्य कर रहे हैं उसके मूल्यों और सिद्धांतों के प्रति हमारे स्वयं के दृढ़ विश्वास, निष्पक्षता और परस्पर सहयोग की भावना को लेकर कोई अंर्तद्वंद न रह जाये। आप बलिष्ठ हैं, अगर आपके विचार बलिष्ठ हैं। तोड़ने वाले, बिगाड़ने वाले, नष्ट–भ्रष्ट करने वाले विचारों को जन्म ही न लेने दें। कभी भी नकारात्मक एवं विकारात्मक पद्धति से न सोचें, न यह पद्धति अपनाएं – तभी हम वर्णित उद्देश्यों को पूर्ण कर परिवर्तन ला पायेंगे, अपने संगठन को नई दृष्टि, नई सोच, नई दिशा देकर उसका भविष्य निखार सकेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऐसा करने में आप एक संतोष का अनुभव करेंगे जो कि अपने आप में ही एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

सदैव याद रखें कि वस्तुतः परिवर्तन सर्वप्रथम अपने से ही शुरू होता है इसमें लेशमात्र संशय न रहे कि दृढ़ संकल्पकृत होकर जब हम लक्ष्य प्राप्ति में लग जाते हैं तो हमें सफलता अवश्यमेव मिलती है जब हम संगठन संबंधी व्यवहार की सोचते हैं

तो हम पायेंगे बाह्य गतिशीलता से आंतरिक गतिशीलता दृष्टिकोण की अपेक्षा सकारात्मक दृष्टिकोण और बाहर से थोपा गया अनुशासन की अपेक्षा स्वप्रेरित अनुशासन और व्यवस्था संबंधी कार्यों में अधिकारी या हाकिम की अहम् भावना की अपेक्षा तंत्र की समस्याओं के व्यवस्थापक एवं एक सहयोगी के रूप में कार्य करेंगे, तो निश्चित ही वे परिवर्तन अपने इस सोच व व्यवहार से ला चुके होंगे। वे परिवर्तन जो यूं आपके अंतःकरण में होगा वे ही आपके मातहत में साहस, विश्वास पैदा करेगा व उन्हें तनावमुक्त बनायेगा। इस प्रकार से आप अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अभियोजन तंत्र को भी श्रेष्ठ बना पायेंगे।

यहां यह विचार भी समाचीन है कि लोग कार्य से जी क्यों चुराते हैं, इसके निम्नलिखित कारण पाये गये हैं –

(1) कार्य का अत्यधिक बोझ :- इसके लिए जरूरी है कि आप अपने क्रियाकलापों को व्यवस्थित करें याद रखें कार्य की अधिकता नहीं बल्कि अनियमितता मनुष्य को मार डालती है इसलिए नियमित और व्यवस्थित बनें।

(2) पर्यवेक्षण का निम्नस्तरीय होना :- पर्यवेक्षण का निम्नस्तरीय होना या सार्थक न होना भी अधीनस्थों को कार्य विमुख करता है इसलिए सही मार्गदर्शन देने की क्षमता यूं विकसित करें। ऐसा करने से, पहले की अपेक्षा, आपके मातहत अधिक सुसंगत और विश्वसनीय साबित होंगे। किसी भी समस्या का हल ढूढ़ने में वे सक्षम सिद्ध हो सकेंगे।

(3) समय का दबाव :- समय की कमी भी लोगों को कार्य विमुख करती है। समय का दुरुपयोग न करें। लक्ष्य के प्रति सही भावना व अपने कार्य के प्रति आपकी समर्पण भावना अपने आप में प्रतिबद्धता ला देवेगी। जिससे कि आप समय का सदुपयोग करते रहेंगे।

(4) नैराश्य :- निराशा कार्य विमुख बनाती है। रचनात्मक आशावादी विचारधारा रखें क्योंकि आपकी सोच आपके जीवन को प्रभावित करती है। आपके अभिप्राय (intension) एवं आपके (motive) संदेह के दायरे से परे होना चाहिए।

मेरे कुछ अनुभव जो आपको श्रेष्ठ बनायेंगे आपके कार्य को भी श्रेष्ठ सिद्ध करेंगे वे इस प्रकार है:–

(अ) दूरदर्शिता (Vision) :- आपके स्वयं के लक्ष्य क्या हैं? आपकी संस्था के लक्ष्य क्या हैं? भविष्य को लेकर हमें जिन परिस्थितियों एवं परिवर्तनों को झेलना होगा। क्या आपने उसकी एक रूपरेखा तैयार कर ली है? अपना कोई Mission Statement बनाया है।

(ब) क्रियान्वयन (Implemention) :- उपरोक्त "अ" बिन्दु की स्पष्ट रूपरेखा आप यूं क्रियान्वित करें कि आपराधिक न्याय प्रशासन के सम्पूर्ण अंगों को साथ लेकर

चलें। अपने कार्यों के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण पूरी तरह प्रदर्शित करें। यह यथार्थ रूप में आपके व्यवहार में परिलक्षित हो कि आप जन साधारण को न्याय दिलाने की सारगर्भित भावना के ही पक्षधर हैं।

(स) संवेदनशीलता (Empathy) :- अपनी संवेदनशीलता से दूसरों की वेदना को जानना ही संवेदनशीलता है। ऊपर "अ" में वर्णित लक्ष्यों को व्यवहारिक बनाएं।

(द) पूर्वाग्रहों से मुक्त हों (Lack of bias, pre-conceived notions) :- आप अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त रहें तथा पूर्वाग्रहों से ग्रसित संस्कारों को त्यागकर, नवीन शुद्ध परिष्कृत दृष्टि से कार्य करें।

(क) कर्मयोग (Karmayoga) :- ध्यान रखें कि आप अपने आपको धोखा नहीं दे सकते, इसलिए दूसरों को धोखा देने की कोशिश न करें। उपरोक्त "अ" से "द" तक वर्णित बिन्दुओं पर अमल करके निरन्तर कार्यशील रहें। परिणाम चाहे जो भी रहे। यह ही सच्ची विजय है।

(ख) गर्व (Pride) :- काम ऐसा करें कि दूसरे गर्व से कह सकें कि फलां काम आपके द्वारा किया गया। ठीक यही भावना अपनी दैनिक दिनचर्या में भी प्रदर्शित करें।

(ग) इच्छा (Resolve) :- जब तक आप अपने कार्य के प्रति स्वयं प्रेरित न होंगे तब तक भ्रमपूर्ण स्थिति बनी रहेगी। आप कहेंगे कि आपने प्रयत्न तो बहुत किये थे पर उपलब्धि कम रही। जबकि होना यूं चाहिए कि प्रयत्न कम हो उपलब्धियां अधिक।

(घ) टीम वर्क अर्थात् दलीय भावना :- विभाग एक दल है इसमें सहयोग की भावना से कार्य करना उतना ही आवश्यक है जितना हमारे शरीर में वायु। यह एक धारणा ही नहीं बल्कि सत्य है। अगर आप इस सत्य को झुठलाते हैं तो अपनी ही क्षति करते हैं। न केवल क्षति बल्कि इसके जो दूरगामी परिणाम होंगे वे आपको ही प्रभावित करेंगे। अपनी संकुचित विचारधारा एवं व्यवहार से आप न केवल अपने आपको बल्कि संस्था को भी हानि पहुंचाते हैं। यह बात सदा याद रखिये।

(ड.) विस्तार पर ध्यान देना :- विस्तार पर ध्यान देने से तात्पर्य यह है कि आपकी कार्य पद्धति ऐसी हो कि आप अपने कार्य की हर एक युक्ति और विस्तृत जानकारी से परिचित रहें। ज्ञान ही बल होता है। इसलिए अपने कार्यक्षेत्र अर्थात न्यायिक क्षेत्र की अद्यतन जानकारी से आप परिचित रहें। संस्था का मूल्यांकन आपके कार्य एवं व्यवहार पर ही आधारित है। इसमें संदेह नहीं कि ज्ञानवान के क्रियाकलाप और व्यवहार अज्ञानी से श्रेष्ठतर होते हैं। विवेक से काम लें।

(च) संबद्धता और समर्पणता :- हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए की कार्य के प्रति हमारी संबद्धता और समर्पणता एक अमूल्य निधि है इसके प्रति हमें विमुख नहीं होना चाहिए। तभी सही नेतृत्व की आशा की जा सकती है और तब ही विभाग के उद्देश्य पूर्ण हो सकेंगे।

TIT-BITS

1. SECTION 5(2) PREVENTION OF CORRUPTION ACT 1947 AND APPRECIATION OF EVIDENCE (1998) 1 SCC 557 *STATE OF U.P. VS. ZAKAULLAH*

The respondent was working as Revenue Inspector (Wasil Baki Nawis) in a sub-tehsil in Nainital District. The nub of the case against him is that he received Rs. 400 as bribe from PW 5 Satpal Singh for doing an official act and he was caught red-handed with the bribe amount by the anti-corruption officials. After obtaining sanction from the Government the respondent was challaned. In his defence, he disputed the entire incident and contended that it was a concocted case against him.

In the instant case the complainant's evidence was jettisoned on the mere ground that since he had a groused against the delinquent public servant he might falsely have implicated the latter. Such a premise is fraught with the consequence that no bribe-giver can get away from such a stigma in any graft case. No doubt the complainant would have been aggrieved by the conduct of the accused. The very fact that he lodged a complaint with the Anti-Corruption Bureau is reflective of his grievance. Such a handicap in his evidence may require the Court to scrutinise it with greater care, but it does not call for outright rejection of his evidence at the threshold. A pedantic approach rejecting the evidence of a complaint simply on the premise that he was aggrieved against the bribe-taker, would only help corrupt officials getting insulated from legal consequences.

The necessity for "independent witness" in cases involving police raid of police search is incorporated in the statute not for the purpose of helping the indicated person to by pass the evidence of those panch witnesses who have had some acquaintance with the police or officers conducting the search at some time or the other. Acquaintance with the police by itself would not destroy a man's independent outlook. In a society where police involvement is a regular phenomenon many people would get acquainted with the police. But as long as they are not dependent on the police for their living or liberty or for any other matter, it cannot be said that they are not independent persons. If the police in order to carry out official duties, have sought the help of any other person he would not forfeit his independent character by giving help to police action. The requirement to have independent witness to corroborate the evidence of the police is to be viewed from a realistic angle. Every citizen of India must be presumed to be an independent person until it is proved that he was a dependant of the police or other officials for any purpose whatsoever.

The DSP who arranged the trap had no interest against the respondent. But the verve shown by him to bring his trap to a success is no ground to think that he had any animosity against the delinquent officer. The evidence of such a witness can be acted on even without the help of any corroboration.

The police officer made arrangements to smear phenolphthalein powder on the currency notes in order to satisfy himself that the public servant had in fact received the bribe and not that currency notes were just thrust into the pocket of an unwilling office. Such a test is conducted for his conscientious satisfaction that he was proceeding against a real bribe-taker and that an officer with integrity is not harassed unnecessarily.

The reasoning of the High Court that reliability of the trap was impaired as the solution collected in the phial was not sent to the Chemical Examiner is too puerile for acceptance. The said solution is always used not because there is any such direction by the statutory provision, but for the satisfaction of the officials that the suspected public servant would have really handled the bribe money.

APPRECIATION OF EVIDENCE : The High Court had reversed the conviction on the ground that nobody overheard the demand made by the accused for bribe of that amount was found in the left pocket of the accused. Supreme Court heald that the act of the High Court is not justified.

●

2. N.D.P.S. SECTION 54 : PRESUMPTION
1998 (1) JLJ 142
CHARANLAL VS. STATE OF M.P.

In Section 54 of the Act although the words 'may presume' have been used but there is clear indication that drawing of the presumption is mandatory. The use of the words 'until and unless contrary is proved' is equivalent to use of word 'disproved', as used in the definition of 'shall presume' or 'may presume' in the Evidence Act. However, this section is akin to definition of 'shall presume' in the Evidence Act as there is no indication whatsoever regarding any discretion with the Court not to draw presumption.

●

3. SECTION 376 I.P.C. : UNCORROBORATED STATEMENT OF PROSECUTRIX 1998 (1) JLJ 138
BAPULAL VS. STATE

Statement of prosecutrix need not be corroborated by any independent witness. Conviction can be based on her sole testimony if found reliable. ***Riji Bhai Vs. State, A.I.R. 1983 SC 753*** and ***Harpal Singh Vs. State A.I.R. 1981 SC 361*** followed.

●

4. MOTOR VEHICLE ACT : COMPENSATION DEPENDENCY
1998 (1) MPLJ 175
M.P.S.R.T.C. VS. SOHAN LAL

The deceased sustained serious injuries and died. Plea that asparents of the deceased were maintaining themselves out of their own earnings and therefore not entitled to compensation, not tenable as parents are legal representatives of the deceased within the meaning of Section 166 of Motor Vehicle

Act, 1988 and are subsequently included as dependents in Section 1A of Fatal Accident Act, 1855. Therefore the parents are entitled to compensation.

●

5. PLEA OF PRIVATE DEFENCE : SECTIONS 97 & 100 I.P.C. (1998) 1 SCC 526

KASAM ABDULLA AFIZ VS. STATE OF MAHARASHTRA

Plea of exercise of right of private defence even if in special set up by accused would be available to him if material on record justify such a plea but where the accused examine himself as a defence witness but did not alter a word about his apprehension of a grevious hurt being caused to him, plea of private defence cannot be sustained.

CRIMINAL TRIAL : Failure to explain injuries on the person of injured. When not fatal to the prosecution case. Non explanation of minor injuries which could not be noticed by the prosecution witnesses are not fatal.

●

6. SECTION 4 PROBATION OF OFFENDERS ACT AND SECTIONS 360 & 361 CR.P.C. (1998) 1SCC 550

NELGIRIS BAR ASSOCIATION VS. T.K. MAHALINGAM

The accused respondent was inposturing as an Advocate and his credentials were bogus. A complaint was lodged with the police who after investigation charge-sheeted the accused for the offences under Section 419 and 420 I.P.C. He pleaded guilty and prayed for mercy. The trial court released him under Section 4 of the Probation of Offenders Act. The High Court declined to interfere but made an endeavour to console the Bar by directing the delinquent person to donate a sum of Rs. 15,000/- to the association for buying books to their library. The High Court heard, the appeal filed by Nilgiris Bar Association.

Accused managing to get enter into legal profession by representing that he was a qualified legal practitioner having enrolled himself with State bar council. Accused practised law for a period of 8 years and was also Secretary of the Bar Association.

Before the relief envisaged in Section 4(1) of the Probation of Offenders Act is granted court must take into account the circumstances of the case, among which "the nature of the offence and the character of the offender" must have overriding considerations. After bestowing judicial consideration on those facts, the court must form an opinion as to whether it would be appropriate in that case to release the particular accused therein as envisaged in the sub-section. The benefits mentioned in Sections 3 and 4 are subject to the limitations laid down in those provisions and the word 'may' in Section 4 of the Act is not to be understood as 'must'.

When considering the nature of the offence the court must have a realistic view of the gravity of the offence, the impact which the offence could have had on the victims and whether considerations of deterrence can be overlooked etc. No fixed yardstick can be laid down to measure the nature of the

offence for affording or denying the reliefs envisaged in Section 4 of the Act. However, as the court is enjoined to take into consideration the character of the offender it is well to remember that character is not the abstract opinion in which the offender is held by others. The word "character" is not defined in the Act. Hence it must be given the ordinary meaning.

The Supreme Court dealt with the accused deterrently and held that the Courts below were not justified in giving him benefit of Section 4. The fact that the accused expressed repentence over his conduct or that he obtained a law degree and got himself enrolled as an Advocate is of no consequence. Accused was awarded 6 months rigorous imprisonment under each count i.e. 419 and 420 I.P.C. and fine of Rs. 5,000/- each (total Rupees ten thousand) was ordered to be added to the fund of Legal Service Board.

●

7. CRIMINAL APPEAL AND REVISION : DISTINCTION BETWEEN SECTION 386 & 401 CR.P.C. (1998) 1 SCC 689 *ASSOCIATED CEMENT CO. LTD. VS. KESHVANAND*

Appellate jurisdiction is coextensive with original court's jurisdiction as for appraisal and appreciation of evidence and reaching findings on facts and the appellate court is free to reach its own conclusion on evidence untrammelled by any finding entered by the trial court. Revisional powers on the other hand belong to supervisory jurisdiction of a superior court. While exercising revisional powers the court has to confine itself to the legality and propriety of the findings and also whether the subordinate court has kept itself within the bounds of its jurisdiction including the question whether the court has failed to exercise the jurisdiction vested in it. Though the difference between the two jurisdictions is subtle, it is quite real and has now become well recognised in legal provinces.

When a trial court had acquitted an accused due to non-appearance of the complainant the appellant court has the same powers as the trial court to reach a fresh decision as to whether in a particular situation the Magistrate should have acquitted the accused. What the trial court did not then ascertain and consider could, perhaps, be known to the appellate court and a decision different from the trial court can be taken by the appellate court, whether the order of acquittal should have been passed in the particular situation.

●

8. PRIVATE COMPLAINT, DISMISSAL OF : PROPRIETY SECTION 247 AND 259 CR.P.C. (1998) 1 SCC 687 ASSOCIATED CEMENT CO. LTD. VS. KESHAVANAND

Non-appearance of complainant. Magistrate not justified in acquitting the accused unless presence of complainant on that date found necessary. Discretion to acquit the accused or proceed with the trial must be exercised judicially and fairly. In the present case the Magistrate was not justified in acquitting the accused particularly when the complainant and other witnesses had already been examined.

COMPLAINT BY A COMPANY : PERSONAL ATTENDANCE BY WHOM :

If there is a complaint by a company the complaint would be the person who represents such company in the Court. Different persons may represent such company at different times. Only Magistrate's permission is necessary. Magistrate cannot insists that the person whose statement was taken on oath at first instance alone can represent the company.

●

9. CHILD WITNESS, APPRECIATION OF EVIDENCE SECTION 118 EVIDENCE ACT 1998 (1) MPLJ 228
RAMCHANDRA VS. STATE

It is settled that while assessing the evidence of child witnesses care and caution have to be exercised because there is likelihood of their being tutored by others and under these circumstances, such witnesses can be relied upon provided the same is corroborated by other reliable evidence on material particulars.

●

10. PRESUMPTION ABOUT CONTINUITY OF MARRIAGE HINDU MARRIAGE ACT SECTION 5 (1) AND EVIDENCE ACT SECTION 50 AND SEC. 114, 111 (D) 1998 (1) MPLJ 254
SAVITRI VS. MANORAMA BAI

There is a presumption about continuity of marriage. Once legal valid marriage admitted to have taken place the burden is on the party contending that there has been dissolution of the marriage.

●

11. SECTIONS 13(6), 17(4) AND 2(1) M.P. ACCOMMODATION CONTROL ACT 1998 (1) MPLJ 249
MOHAMMAD NASIR VS. SMT. RABIYABAI

Applicant claiming himself to be the tenant of the plaintiff landlord therefore, the applicant could be directed to deposit rent in suit for eviction by landlord against tenant as word "tenant" is defined under Section 2 (1) to include any person occupying accommodation as a sub-tenant and applicant has himself claimed to be tenant. Therefore striking of defence on failure to comply with the provisions is legal and proper.

●

12. CONTINUANCE IN SERVICE BEYOND THE DATE OF SUPERANNUATION : ENTITLEMENT OF PAY (1997) 9 SCC 239 RADHA KISHUN VS. UNION OF INDIA

The petitioner was to retire on 31-05-1991 but continued in service till 31-05-1994. He claimed retirement gratuity, leave encashment, commutation of pension amount etc. etc. The Supreme Court held as under :

We are aghast to notice the boldness with which it is claimed that he is entitled to all the benefits with effect from the above said date when admittedly

he was to retire on 31-5-1991. It would be an obvious case of absolute irresponsibility on the part of the officer concerned in the establishment in the section concerned for not taking any action to have the petitioner retired from service on his attaining superannuation. It is true that the petitioner worked during that period, but when he is not to continue to be in service as per law, he has no right to claim the salary etc. It is not the case that he was re-employed in the public interest, after attaining superannuation. Under these circumstances, we do not find any illegality in the action taken by the authorities in refusing to grant the benefits.

It is then contended that the petitioner would have conveniently secured gainful employment elsewhere and having worked, he cannot be denied of the legitimate salary to which he is entitled. Though the argument is alluring, we cannot accept the contention and given legitimacy to the illegal action taken by the authorities. If the contention is given acceptance, it would be field day for manipulation with impunity and one would get away on the plea of enquiry and misplaced sympathy. It cannot and should not be given countenance.

●

13. O.6 R. 17 READ WITH SECTION 34 S.R. ACT
(1997) 11 SCC 457
VEERENDRA KUMAR VS. KUSUM BHUWANIA

In a case in which the plaintiff could have sought the relief of specific performance filed a suit only for declaration and injunction. The plaintiff sought amendment in the pleadings and wanted a conversion of a suit into a suit for specific performance. When a claim for specific performance had already become barred by limitation. Therefore, such amendment cannot be allowed.

●

14. ART. 141 CONSTITUTION BINDING EFFECT OF SUPREME COURT JUDGMENTS (PRECEDENTS) (1997) 11 SCC 641
GOVERNMENT OF INDIA VS. WORKMEN OF STATE TRADING CORPORATION

When there is a non-speaking order by the Supreme Court neither facts nor reasons were stated in an earlier order of the Supreme Court such and order was not a binding precedent and therefore the High Court was not justified in basing its decision on such order.

●

15. ART. 141 CONSTITUTION : BINDING EFFECT OF SUPREME COURT JUDGMENTS (PRECEDENTS)
(1997) 11 SCC 488
DELHI ADMINISTRATION VS. NANDLAL PANT

Supreme Court's decision not to be treated as a precedent when the Supreme Court while granting relief in the facts and circumstances of the case

itself cautioning that directions issued by it not to be treated as a precedent in any other case.

●

16. HINDU MARRIAGE ACT SECTION 24 READ WITH SECTION 125 CR.P.C. ADJUSTMENT OF AMOUNT, INTERIM ALIMONI (1997) 11 SCC 286
SUDEEP VS. RADHA

Interim alimony granted under Section 24 of Hindu Marriage Act is adjustable against the amount awarded against the Section 125 Cr.P.C.

●

17. SECTION 32 EVIDENCE ACT : DYING DECLARATION (1997) 11 SCC 50
PRATAPANENI RAVI KUMAR VS. STATE OF A.P.

Two dying declarations. First before the IO and second before the Munsif-Magistrate. First dying declaration specifically naming 8 persons and further mentioning that there were 5 or 6 other persons. Second dying declaration recorded after half an hour specifically naming 13 persons who had beaten the deceased. Specific role played by each accused mentioned in the dying declaration. Fact that soon after the assault the deceased became unconscious and the IO recorded his statement soon after he regained consciousness in the hospital rules our possibility of tutoring. Moreover, there is nothing on record to show that in between recording of the two dying declarations anyone was allowed to go near the deceased. In the circumstances of the case, further details given by the deceased in his second dying declaration cannot be treated as an improvement.

●

18. SECTION 114, III, (G) EVIDENCE ACT; NON EXAMINATION OF MATERIAL WITNESS (1997) 11 SCC 546
SAUDAGAR SINGH VS. STATE OF HARYANA

Naurang Singh who claimed to have sustained injuries in the accident and lodged the FIR with the police at the hospital where he was admitted for treatment and as such was the most important witness for the prosecution was not examined. The prosecution offered explanation that he was gained over by the accused is borne out by record, in that, his son, Nihar Singh (PW 14), who also claimed to have seen the incident when examined under Section 161 Cr.P.C. turned hostile. Besides, on being cross-examined by the Public Prosecutor, Nihar Singh stated that the complainant party was suspecting that his father had joined hands with the accused. Held that in the circumstances no adverse presumption against the prosecution can be drawn.

●

19. SECTION 12 PROBATION OF OFFENDERS ACT DEPARTMENTAL ENQUIRY (1997) 11 SCC 571
ADDL. D.I.G. VS. P.R.K. MOHAN

Section 12 of the Probation of Offenders Act, 1958 protects only form other laws providing for disqualification on account of conviction and not form departmental punishment. Therefore, where the sentence of imprisonment was substituted by an order under Section 12 the authorities could, after considering the effect of such modification, pass an order of departmental punishment.

●

20. SECTION 304-B, 302, 498-A
(1997) 11 SCC 27
STATE OF MAHARASHTRA VS. ASHOK CHOTELAL

PENAL CODE, 1860-SS. 304-B, 302 : Dowry death. Death of housewife by burning. Suicide or homicide. Appreciation of evidence. Deceased seen by the witnesses rushing into the drawing room in burning condition. Factum of accused killing his wife in the presence of outsiders particularly when he was aware that his mother-in-law was to come at about that time doubted. Can of kerosene found in the drawing room suggesting that the accused followed with the said can and poured kerosene over the deceased in the drawing room and placed it there. But in the circumstances of the case planting of the said can cannot be ruled out. Conduct of the accused that instead of securing medical help for the deceased he got himself admitted in the hospital and his failure to explain some of the incriminating circumstances in his statement under S. 313 Cr.P.C. create a strong suspicion but that cannot lead to only conclusion that the accused caused her death. Reasons given by the High Court for not relying upon two dying declarations not improper. In the circumstances of the case finding of the High Court that the prosecution failed to establish beyond reasonable doubt that the accused caused death of his wife does not call for any interference.

SECTION 498-A : Ingredients. Suicide by married woman. Prosecution must establish that the accused committed acts of harassment or cruelty as contemplated by the section and such harassment or cruelty was reason for the suicide. No specific charge framed against the accused. Evidence of harassment or cruelty not sufficient for holding that the deceased was driven to commit suicide because of harassment or cruel treatment by the accused. Order of acquittal passed by the High Court upheld. Evidence Act, 1872, S. 113-A.

●

21. SECTION 304-B AND 498 A, I.P.C.
(1997) 11 SCC 552
PYARE LAL VS. STATE OF HARYANA

Conviction under Ss. 304-B and 498-A. Legality. Dowry death. Death within the time-limit mentioned in S. 304-B, when not amounts to Dowry death. Accused-appellant making demands of property and cash which partially met by his father-in-law. Appellant, however, turning out his wife and one month old child and consequently the wife staying with her father. Cross-litigation under S.9 of Hindu Marriage Act and S. 125 Cr.P.C. between the appellant and

wife. However, compromise effected between the parties and the wife going to the appellant's house. After a few months two problems arising, viz., the appellant staring to beat the wife and the appellant's father refusing to accommodate the spouses in his own house. The spouses shifting to a rentedhouse. The wife, due to the harassment and maltreatment meted out to her by the appellant, asking her father to accommodate her but her father refusing to do so. Impending delivery of a child in these very circumstances having a further depressing effect on her. These circumstances leading her to commit suicide by taking poison. Having been occasioned not by any demand of dowry but by other factors, the wife's death although within seven years of marriage, held, not dowry death so as to attract S. 304-B. However, the cruelty otherwise inflicted upon her, held, a relevant factor to maintain the appellant's conviction under Section 498-A. Cruelty. Hindu Marriage Act, 1955, S. 13 (i-a). Cruelty.

●

22. FREE FIGHT
(1997) 11 SCC 567
PUNDALIK MAHADU VS. STATE

Sudden and free fight between two groups. Each of the persons involved there-in would be liable for his individual act and not vicariously.

(Please see 'Joti Journal' Vol. IV, Part I February 1998 issue tit-bit no 37 page no. 44).

●

23. DRIVING LICENCE : WANT OF : LIABILITY OF INSURANCE COMPANY : MOTOR VEHICLE ACT 1988
M/S. UNITED INDIA INSURANCE COMPANY LTD. VS. DHANALAKSHMI
1998(1) T.A.C. 144 (KANT. H.C.)

Ss. 2,3(1), 10 and 149 liability of insurance company. Driving licence. Driver not possessing a valid driving licence and violation of terms of insurance policy. Tribunal awarded compensation and fastened the liability of paying compensation on the insurer. Whether insurer is liable for compensation. No. Driving licence for driving a heavy passenger motor vehicle cannot be considered as driving licence for a heavy goods vehicle. Insurer cannot be made liable where there is clear violation of terms of policy.

●

24. EMPLOYEE : W.C. ACT : EXTENT OF LIABILITY OF INSURANCE COMPANY
NATIONAL INSURANCE COMPANY LTD.., JABALPUR VS. RAINKI BAI
1998(1) T.A.C. 192 (M.P.HC)

Ss. 143 and 147 and Workmen's Compensation Act, 1923, S.3 Accident. Liability of insurance company. Deceased an employee on tractor fell down and died rash and negligent driving proved. Deceased was an employee of the owner of tractor. Policy of insurance an Act policy. Compensation has to be fixed as per the provision of Workmen compensation Act.

●

25. SANCTION FOR PROSECUTION : SPEAKING ORDER : ARMED FORCES (SPECIAL PROVISIONS) ACT 1958

NAGA PEOPLE'S MOVEMENT OF HUMAN RIGHTS VS. UNION OF INDIA

The protection given under Section 6 cannot be regarded as conferment of an immunity on the persons exercising the powers under the Central Act. Section 6 only gives protection in the form of previous sanction of the Central Government before a criminal prosecution or a suit or other civil proceeding is instituted against such person. Insofar as such protection against prosecution is concerned, the provision is similar to that contained in Section 197 Cr.P.C. which covers an offence alleged to have been committed by a public servant "while acting or purporting to act in the discharge of his official duty." Section 6 only extends this protection in the matter of institution of a suit or other legal proceeding.

A discretionary power vested in the Government to grant or withhold sanction is not necessarily a discretionary power. There is, therefore, no merit in the challenge to the validity of Section 6. It cannot be said that it virtually provides immunity to persons exercising the powers conferred under Section 4. But at the same time, since the order of the Central Government refusing or granting the sanction under Section 6 is subject to judicial review, the Central Government shall pass an order giving reasons.

●

26. EXPERTS EVIDENCE : APPRECIATION OF : SECTIONS 45, 47 AND 67 EVIDENCE ACT (1998) 2 SCC 192

GULZAR ALI VS. STATE OF H.P.

The modes of proof envisaged in Sections 45 and 47 of the Evidence Act are not exhaustive for proving the genuineness or authorship of a document.

It must be remembered that expert evidence regarding handwriting is not the only mode by which genuineness of a document can be established. The requirement is Section 67 of the Evidence Act is only that the handwriting must be proved to be that of the person concerned. In order to prove the identity of the handwriting any mode not forbidden by law can be resorted to. Of course, two modes are indicated by law in Sections 45 and 47 of the Evidence Act. The former permits expert opinion to be regarded as relevant with such handwriting to be regarded as relevant evidence. Those and some other provisions are subsumed under the title "Opinion of third persons when relevant". Opinions of third persons, other than those enumerated in the fasciculus of opinions those mentioned in Sections 45 and 47 are also included. So it cannot be said that identity of handwriting of a document can be established only by resorting to one of those two sections. There can be other modes through which identity of the handwriting can be established. Citing an example, if a letter is seized form the possession of 'A' and the letter contains the name of the sender as well as the name of the sendee and if such sendee happens to be 'A' himself, those circumstances even without resorting to the mode indicated in Sections 45 and 47 of the Evidence Act, would be sufficient

to draw an inference that the author or even scribe of that letter is the sender and 'A' is the sendee of it.

SECTION 45 EVIDENCE ACT : Expert witness. Tendency to support the view of person who called him. Evaluation or substance of.

Observation of the High Court that "there is a natural tendency on the part of an expert witness to support the view of the person who called him" cannot be downstaged, for many so-called experts have been shown to be remunerated witness making themselves available on hire to pledge their oath in favour of the party paying them.

●

27. P.F.A. ACT : SECTION 16 (1) (A) (I)
CRIMINAL APPEAL NO. 551 OF 1997 DECIDED BY HON'BLE SHRI JUSTICE S.P. KHARE, M.P. HIGH COURT, JABALPUR.
STATE VS. NARAYAN

The trial court acquitted the accused/respondent. The State Goverment filed an appeal against the order of the acquittal. The trial Magistrate held that the accused was carrying the milk for sale and the Food Inspector purchased the milk from him. The Trial Court held that the milk was adulterated. The accused was however, acquitted on the ground that it was not proved that the glass jar in which the sample was taken was clean and dried. The appellate challenged the order on the ground that the acquittal is based on a flimsy ground that no question was put to the Food Inspector in cross-examination regarding the glass jar.

Referring to ***Madan Lal Vs. State of J&K, AIR 1998 SC 386*** the High Court held that in deciding appeals against acquittal the Court of appeal must examine the evidence in particular case; must also examine the reasons on which the order of acquittal was passed; and should interfere on being satisfied with the view taken by the acquitting judge is unreasonable. From the evidence it has been found that the accused was carrying milk for sale and was adulterated. The reason given by the trial court for acquittal of the accused is tenuous. Accordingly the appeal was allowed. The accused was convicted and sentenced.

●

28. SUIT FOR DECLARATION AND CONSEQUENTIAL RELIEF OF ARREARS OF PAY
(1998) 2 SCC 510
STATE OF M.P. VS. MANGILAL SHARMA

The respondent filed a civil suit under Section 34 of the Specific Relief Act, 1963 that he continued in the service of the appellant-State. In the suit, the respondent did not claim reliefs like arrears of salary and other consequential reliefs. The respondent's suit was decreed and the court declared that he "is still in continuous service..... and his services are not terminated." The appellant-State took the respondent back in service on the basis of this decree but the respondent in execution proceedings claimed further reliefs

regarding arrears of salary and other consequential benefits. Dismissing the execution application and setting aside the orders of the lower courts.

HELD :

Normally in a case like the present one, the plaintiff when seeking relief of declaration that he continues to be in service would also seek consequential reliefs of reinstatement and arrears of salary. This the respondent as plaintiff did not do so as the Government not being a private employer would certainly respect a mere decree of declaration. The appellant has rightly reinstated the respondent in service as the decree gave a declaration to his legal status of having remained a government servant throughout as if the order of termination of service never existed. It was not necessary for the respondent to seek relief of arrears of salary in a suit for declaration as he may be satisfied with a mere relief for declaration that he continues to be in service. If he afterwards claims arrears of salary in suit for the period to the relief of declaration, he may face the bar of Order 2, Rule 2 of the Code of Civil Procedure.

A declaratory decree merely declares the right of the decree-holder vis-a-vis the judgment-debtor and does not in terms direct the judgment-debtor to do or refrain from doing any particular act or thing. Since in the present case, decree does not direct reinstatement or payment of arrears of salary, the executing court could not issue any process for the purpose as that would be going outside or beyond the decree. The respondent as decree-holder was free to seek his remedy for arrears of salary in the suit for declaration. This executing court has no jurisdiction to direct payment of salary or grant any other consequential relief which does not flow directly and necessarily from the declaratory decree. It is not that if in a suit for declaration where the plaintiff is able to seek further relief, he must seek that relief though he may not be in need of that further relief. In the present suit, the plaintiff while seeking relief of declaration would certainly have asked for other reliefs like the reinstatement, arrears of salary and consequential benefits. He was, however, satisfied with a relief of declaration knowing that the Government would honour the decree and would reinstate him. This Court will therefore assume the suit for mere declaration filed by the respondent-plaintiff was maintainable, as the question of maintainability, of the suit is not issue before the court.

It was contended on behalf of the respondent that once the court gave a declaration about the legal status, the necessary consequence would be that the respondent should be granted arrears of salary and other consequential benefits by the appellant, unlike in a case which was governed by law of contract between the parties. It is difficult to accept this proposition because provisions of Section 34 of the Specific Relief Act are specific, and in that case even declaration could not have been granted because it could be said that the respondent was able to seek further relief than a mere declaration of his legal status and which he omitted to do so.

In the present case, the courts below did not exercise their jurisdiction properly and the respondent could not have sought execution of the declaratory decree when not relief was granted to him towards arrears of salary and other consequential benefits.

Once the government servant is appointed to his post or office, he acquires a status and his rights and obligations are no longer determined by consent of both parties but by statute or statutory rules which may be framed by the Government. The legal position of a government servant is more one of status than of contract.

●

29. BANKING TRANSACTIONS : GRANT OF INTEREST
N.M. VEERAPPA VS. CANARA BANK
(1998) 2 SCC 317

A partnership firm and its partners (including the appellant) obtained a loan from the respondent-Bank by mortgaging certain properties with the Bank as security. Since there was default in payment of loan, the respondent-Bank filed a suit against the firm and its partners. The trial court passed a preliminary mortgage decree with proportionate costs but the decree-holder Bank was directed to file a fresh memo of calculation calculating the interest on the balance of principal amount due at 16.5% per annum from the date of the equitable mortgage at yearly rests till date of suit. The amounts paid after suit by the defendants were to be deducted as on the respective dates of payment and interest was to be paid as per judgment and these figures were directed to be computed. It was further directed, that future interest from date of suit was to be only 6% per annum and not at the contractual rate of 16.5%. On appeal the High Court held that the plaintiff was entitled to future interest also at the contractual rate of interest of 16.5% form date of suit till date of realisation with costs because of Section 34 CPC. Before the Supreme Court it was argued for the appellant that the suit being one based on mortgage, the provision applicable so far as pendent lite interest was concerned was Order 34 Rule 11 CPC and not Section 34 CPC as wrongly held by the High Court. It was pointed out that under Order 34 Rule 11 the Court could exercise discretion. If there were good reasons for doing so, to award a rate interest which was not necessarily the contractual rate but something less. Allowing the appeal and restoring the rate of 6% from the date of suit fixed by the trial court.

HELD :

Following principles as regards Order 34 Rule 11 CPC can be summarised. (a) Before 1929, it was obligatory for the Court to direct the contract rate of interest to be paid by the mortgagor on the sum adjudged in the preliminary decree from the date of suit till the date fixed for payment as per Order 34 Rule 2(c)(i) or Order 34 Rule 34 (1) or Order 34 Rule 7(c)(i), respectively in suits for foreclosure, sale or redemption. (b) But after the 1929 Amendment, because of the words used in the main part of Order 34 Rule 11, namely that "the Court may order payment of interest" it is no longer obligatory on the part of the Court while passing preliminary decree to require payment at the contractual rate of interest form date of suit till the date fixed in the preliminary decree for payment of the amount. It has been so held in ***jaigobind*** case by the Privy Council and by the Supreme Court in ***S.P. Majoo*** case that the new provision gives a certain amount of discretion to the Court so far as pendent lite interest is concerned and subsequent interest is concerned. (c) It is not longer obliga-

tory to award the contractual rate after date of suit and up to the date fixed for redemption as above stated even though there was no question of the contractual rate being penal, excessive or substantially unfair within the meaning of the Usurious Loans Act, 1918. (d) Even if the Court otherwise wants to award interest, the position after the 1929 and 1956 Amendments is that the Court has discretion to fix interest form date of suit under Order 34 Rule 11(a)(i) up to date fixed for payment in the preliminary decree, the same rate agreed in the contract, or if no rate is so fixed, such rate as the Court deems reasonable - on the principal amount found or declared due on the mortgagor is concerned. (e) The Court has also power to award form the date of suit under Order 34 Rule 11(a)(iii) a rate of interest on costs, charges and expenses as per the contractual rate or failing such rate, at a rate not exceeding 6%. This is the position of the discretionary power of the Court form the date of suit up to the date fixed in the preliminary decree as the date for payment. (f) Again under Order 34 Rule 11(b) so far as the period after the date fixed for payment is concerned, the Court, even if it wants to exercise its discretion to award interest up to date of realisation or actual payment, on the aggregate sums specified in clause (a) of Order 34 Rule 11, could award interest at such rate as it deemed reasonable.

The effect of the non obstante clause in Section 21-A of the Banking Regulation Act is to override the Central Act, namely, the Usurious Loans Act, 1918 and any other "law relating to indebtedness in force in any State." Obviously it does not expressly intend to override the Code of Civil Procedure among the Central statutes. It is now well settled that the scope and width of the non obstante clause is to be decided on the basis of what is contained in the enacting part of the provision. Further, the Civil Procedure Code cannot be described as a "law relating to indebtedness in force in any State." Therefore, the provision of Section 21-A of the Banking Regulation Act, 1949 cannot be held to have intended to override a Central legislation like the CPC or Order 34 Rule 11 CPC. Secondly, the discretionary power conferred on the Civil Court under Order 34 Rule 11 to cut down the contractual rate of interest for the period form the date of suit and even up to the date fixed for redemption by the Court is very much there, even if there was no question of the rate being penal, excessive or substantially unfair within the meaning of the Usurious Loans Act, 1918. In other words, the discretionary power given to the Court under Order 34 Rule 11 is an independent power and the power is neither traceable to Section 74 of the Contract Act nor to any power in the Usurious Loans Act, 1918 nor to any State statutes permitting a court to scale down contractual rates of interest.

If Section 21-A of the Banking Regulation Act, 1949 does not come to the aid of banks vis-a-vis Order 34 Rule 11 CPC, the question whether for the period during the pendency of mortgage suits in courts, the courts discretion should continue or whether it should be fettered and if so to what extent and as to what rate of interest and whether there should be any distinction between different kinds of debtors these are all matters of policy for the legislature and it will be for Parliament to lay down its policies and bring forward such

legislation as it may deem fit in accordance with the provisions of the Constitution of India.

Section 34 of the Code of Civil Procedure applies to simple money decrees and payment of interest pending such suits. So far as mortgage suits are concerned, the special provision in Order 34 Rule 11 alone is applicable and not Section 34.

●

30. 06-R-17 C.P.C.
AMENDMENT APPLICATION
(1998) 1 SCC 278 *HEERALAL VS. KALYAN MAL*

The appellant-plaintiff had filed a civil suit in 1993 for partition of 10 items of immovable properties mentioned in Schedule A of the plaint, and also for the partition of other properties listed in Schedule B of the plaint. The respondent-defendants 1 and 2 filed a joint written statement taking a definite stand that out of the listed properties in Schedule A only three properties at Items 4, 9 and 10 exclusively belonged to them and were not joint family properties and thus admitted that the remaining 7 properties listed in Schedule A were joint family properties and also stated that plaintiff is entitled to only 1/3rd share in respect of the said 7 properties. However, as regards properties listed in Schedule B the defendants' case form the very beginning was that the plaintiff had not interest there in.

The suit remained pending for trial for a number of years. The plaintiff moved an application for appointment of a receiver in connection with 7 admitted properties. At that stage after about 18 months from moving of that application defendant 1 made an application to amend his written statement, by submitting that because of incomplete information supplied to him by his counsel the written statement came to contain so-called admissions regarding the Schedule A properties and that he had suffered a heart attack in 1989 and therefore error crept in written statement filed in 1993. The defendant also wanted to insert a further avertment in the written statement regarding Schedule B properties that they had ceased to remain in possession of defendant 1 and were in possession of trespassers.

The trial Court stated that the amendment was not a bonafide one and it was moved only with a view to protract the proceedings and dismissed the same. The High Court allowed the defendants' revision petition under Section 115 CPC holding that it was settled legal position that admissions made earlier could be explained and could be given a go-by in appropriate cases. The supreme Court held that once the written statement contained an admission in favour of the plaintiff, by amendment such admission of the defendants cannot be allowed to be withdrawn if such withdrawal would amount to totally displacing the case of the plaintiff and which would cause him irretrievable prejudice. The Supreme Court further held that even that apart, the defendant respondents did not think it fit to move any amendment application for getting out of such admission till the plaintiff moved an application for appointment of receiver regarding admitted items. However, so far as Schedule B properties

are concerned the Supreme Court allowed the application for amendment saying that by proposed amendment defendants wanted to introduce an event with reference to those very properties by substituting that they were not in possession of trespassers. This part of the amendment could not be said to have in any way adversely or prejudicially affected the case of the plaintiff or displaced any admission. From the very inception the defendants' case qua those properties was that the plaintiff had not interest there in.

CASES REFERRED :

1. 1995 Supp. (3) SCC 179, Basavan Jaggu Dhobi Vs. Sukhnandan Ramdas.
2. 1995 Supp. (2) SCC 303 = A.I.R. 1995 SC 1498, Akshaya Restaurant Vs. P. Anjanappa.
3. 1984 Supp. SCC 594, Panchdeo Narain Srivastava Vs. Jyoti Sahay.
4. (1976) 4 SCC 320 : (1977) 1 SCR 728, Modi Spg. & Wvg. Mills Co. Ltd. Vs. Ladha Ram & Co.

●

31. BENAMI TRANSACTION SECTIONS 4&3 BENAMI TRANSACTIONS (PROHIBITION) ACT, 1998 (1997) 11 SCC 714 *REBTI DEVI VS. RAM DUTT AND ANOTHER*

Appellant Rebti Devi filed a suit against her son (respondent) claiming that she had purchased the property under a registered sale deed out of money acquired by sale of her jewellery and ornaments and other sources. Defendant (son) alleging that the property was purchased by his father in the name of his mother benami for consideration entirely paid by him. Initially burden was on defendant to prove the transaction to be benami. The lower appellate Court and the High Court arrived at a conclusion that defendant had discharged his burden. In appeal before Supreme Court several contentions were raised. The plaintiff filed a suit for possession of property from the occupation of one of her sons Ram Datt Gupta, respondent. The defence that the transaction was benami. Contention that the provisions were attracted even though defence on benami was raised long before 19-05-1988 in matter of pending as on that date when the Act had come into force. The contention was raised on the basis of the judgment in ***Rajgopal Reddy Vs. Padmini Chandrashekaran, (1995) 2 SCC 630*** prohibiting raising of defence of benami in such circumstances, had been doubted by another three-Judge Bench of Supreme Court in ***Nand Kishore Mehra Vs. Sushila Mehra, (1995) 4 SCC 572*** which was held that decision in Rajgopal Reddy's case is not in any manner shaken by anything said in Nand Kishore Mehra's case and that both cases deal with different aspects of the Act as stated above and each of the cases continues to govern different provisions of the Act.

The Supreme Court further held that they are unable to find how Nand Kishore Mehra's case can be said to have doubted R. Rajagopal Reddy's case. In fact, far from doubting it, it proceeds to accept the said judgment and

then considers the case of exceptions provided in Section 3(2). It holds incidentally that there is another exception contained in Section 4 (3) of the Act. These exceptions apply even to suits filed after 19-05-1988 and are not affected by what is decided in R. Rajagopal Reddy's case.

Other cases referred by Supreme Court are ***Shankara Hali Vs. Kishori Lal (1996) 7 SCC 55*** explained, harmonised and affirmed. Another Case referred was ***Mithilesh Kumari Vs. Prem Bihari Khare (1989) 2 SCC 95*** and ***(heirs of) Brajlal Vs. (heirs of) Purushottam S. Shah, (1996) 4 SCC 490.***

●

32. RENT CONTROL AND EVICTION
(1997) 11 SCC 411
RAJ KUMAR VS. BIBI ZUBAIDA KHATUN

The appellant landlords instituted a suit seeking ejectment of the respondent-tenants. The trial court decreed the suit. The High Court in exercise of its revisional jurisdiction reversed the findings of the lower Court on the ground that there were no specific pleadings on the record regarding the bonafide requirement of the landlords. The Supreme Court considered the pleadings, particularly paragraphs 11 and 12, and held that it is clear from the averments made in the pleadings that the plaintiff asserted there were no other means of livelihood with them and as such they wanted to set up their own business in the premises in dispute. The High Court, however, came to the conclusion that apart from above-quoted pleadings it was necessary to plead the nature of the business which the appellant plaintiffs wanted to start in the premises. We are of the view that the High Court fell into patent error. It was not necessary for the appellant-landlords to indicate the precise nature of the business which they intended to start in the premises. Even if the nature of business would have been indicated nobody could bind the landlords to start the same business in the premises after it was vacated.

●

33. HINDU MARRIAGE ACT : DIVORCE : DEATH OF SPOUSE
C.P.C. 0.5, 0.9, 0.22 & R 13
(1997) 11 SCC 159
YALLAWWA VS. SHANTAVVA

The appellant is ex-mother-in-law of the respondent. The respondent was married wife of one Basappa. The appellant is the mother of Basappa. Basappa filed a petition for obtaining a divorce against the respondent on the ground of desertion. The petition was decreed ex-parte on 15-12-1989. After the decree Basappa filed a suit against respondent contending that though she was no longer the wife of Basappa yet she was unnecessarily interfering with his possession and enjoyment of the suit property. It is further case of the appellant that on 01-03-1990 the respondent was served with the summons who remained absent and trial Court granted a temporary injunction against the respondent. Basappa died on 26-05-1990. It is thereafter that the respondent filed miscellaneous application under Order 9, 13 CPC setting aside ex-

parte divorce decree passed on 15-12-1989. The respondent pleaded that she had come to know about the ex-parte divorce decree only on 31-03-1990; that she was not served with the summons in the said petition filed by Basappa. Condonation application was also filed. So long as moving of a petition for divorce is concerned to that extent it is a personal cause of action passed on matrimonial misconducts alleged in the petition against the erring spouse. Consequently in such proceedings before any decree comes to be passed if either of the spouses expires pending trial, then the personal cause of action would die with the person as it is the personal cause of action to both of them and therefore right to sue would not survive.

As the ex-parte decree is found to be rightly set aside by the High Court, the marriage petition would automatically stand restored on the file of the trial Judge at the stage prior to that at which they stood when the proceedings got intercepted by the ex-parte decree. Once that happens the original plaintiff seeking decree of divorce against the wife being no longer available to pursue the proceedings now, the proceedings will certainly assume the character of a personal cause of action for the deceased husband and there being no decree culminating into any crystalized rights and obligations of either spouse, the said proceedings would obviously stand abated on the ground that right to sue would not survive for the other heirs of the deceased husband to get any decree of divorce against the wife as the marriage tie has already stood dissolved by the death of the husband. No action, therefore, survives for the court to snap such a non-existing tie, otherwise it would be like trying to slay the slain. At this stage there remains no marriage to be dissolved by any decree of divorce. Consequently, now that the ex-parte decree is set aside, no useful purpose will be served by directing the trial court to proceed the Hindu Marriage Petition by restoring it to its file.

0.9 R 13 : Effect of setting aside ex-parte divorce decree where plaintiff spouse had already expired. Held, proceedings challenging the decree maintainable. Aggrieved spouse should be allowed the opportunity to wipe out the social stigma attached on her/him by virtue of divorce decree on ground of matrimonial misconduct. View that since divorce proceeding represented personal cause of action, right to sue would not survive for challenging the divorce decree after death of the decree-holder spouse and therefore the proceedings challenging the decree would stand abated, cannot be sustained as cause of action would survive qua the estate of the deceased spouse in the hands of his/her LRs. Therefore, in the proceedings challenging the divorce decree initiated by the aggrieved spouse, LRs. of the deceased spouse can be joined as opposite parties. However, if a spouse dies during pendency of the divorce petition, before passing of the divorce decree, right to sue would not survive. Abatement.

O. 5 Rr. 17,12,15,20 : Substituted service should be effected as a last resort when ordinary steps for service fail. Application for the substituted service should not be allowed automatically.

●

34. ABATEMENT OF SUIT
O. 22 R. 4 C.P.C.
AMAR SINGH VS,. LAL SINGH (1997) 11 SCC 570

Pending appeal, the first respondent died on 5.5.1979 and the appeal against him stood abated. We are informed that the third respondent also died on 8.11.1984. No steps have been taken. We are further informed that all the appellants too have died but legal representatives have not been brought on record. We need not proceed further except to the extent of the matter on record, namely, the death of the first respondent and abatement qua him. Admittedly, the first respondent died on 5.5.1979. His defence against the suit of the appellant is based upon the will. The will now stands upheld by the High Court. Consequently, as all the respondents are jointly entitled to the property covered under the will, the relief is joint and inseparable. Since the appeal as against the first respondent stood abated, the decree being joint and inseparable, the appeal stands abated as against all the respondents.

●

35. MISCONDUCT: GIVING FALSE EVIDENCE IN CRIMINAL CASES
1998 (1) JLJ 97
KUPPILI MOHAN RAO VS. M.D., F.C.I.

Giving alleged false statement in court in connection with criminal case. No nexus with employment of corporation. Provision of F.C.I. (Staff) Regulations, 1971 Regulation No. 32 not applicable. Misconduct should be in connection with service. Allegedly giving false evidence in Court of law having no direct or remote nexus with service. Department cannot proceed against employee. ***A.I.R. 1985 SC 504, Rasiklal Vs. Ahmedabad Municipal Corporation*** in which it was held that,

> "The High Court while dismissing the petition held that even if the allegation of misconduct does not constitute misconduct amongst those enumerated in the relevant service regulations yet the employer can attribute what would otherwise per se be a misconduct though not enumerated and punish him for the same. This proposition appears to us to he startling because even though either under the Certified Standing Orders or service regulations, it is necessary for the employer to prescribe what would be the misconduct so that the workman/employee knows the pitfall he should guard against. If after undergoing the elaborate exercise of enumerating misconduct, it is left to the unbridled discretion of the employer to dub any conduct as misconduct, the workman will be on tenter hooked and he will be punished by ex post facto determination by the employer"

●

जिसे पुस्तकें पढ़ने का शौक है, वह सब जगह रह सकता है।
महात्मा गांधी

NOTIFICATION

RULES UNDER THE SUITS VALUATION ACT

In exercise of the powers conferred by section 3 of the Suits Valuation Act, 1887(VII of 1887), the State Government has made the following rules for determining the value of land in Madhya Pradesh for purpose of jurisdiction in the suit mentioned in paragraphs (v) and (vi), and paragraph (x), clause (d) of section 7 of the Court Fees Act, 1870 (VII of 1870) :

(1) In these rules 'estate' means any land subject to the payment of revenue for which the proprietor or farmer or raiyat shall have executed a separate engagement to Government or which, in the absence of such engagement, shall have been separately assessed with revenue.

(2) In suits for the possession of land mentioned in paragraph (v) of section 7 of the Court Fees Act, 1870 (VII of 1870), the value of the land shall be deemed to be as follows :

(a) where the land forms an entire estate, or a definite share of the estate, paying annual revenue to Government or where the land forms part of such an estate and is recorded in the Collector's register as separately assessed with such revenue, and such revenue is permanently settled, - twenty times the revenue so payable;

(b) where the land forms an entire estate, or a definite share of the estate, paying annual revenue to Government or where the land forms part of such estate and is recorded as aforesaid; and such revenue is settled, but not permanently, -fifteen times the revenue so payable;

(c) where the land pays no such revenue, or has been partially exempted from such payment, or is charged with any fixed payment in lieu of such revenue, and net profits have arisen from the land during the year next before the date of presenting the plaint-fifteen times such net profits; but where no such net profits have arisen therefrom- the amount at which the court shall estimate the land with reference to the value of similar land in the neighbourhood;

(d) where the land forms part of an estate paying revenue to Government, but is not a definite share of such estate and is not separately assessed as above mentioned, -the market value of the land.

(3) In suits to enforce a right of pre-emption mentioned in paragraph (vi) of section 7 of the Court Fees Act, 1870; the value of the land shall be computed in accordance with sub-rule (2).

(4) In suits for the specific performance of an award mentioned in clause (d) of paragraph (x) of section 7 of the Court-Fees Act, 1870 the value of the land shall be computed in accordance with sub-rule (2).

II. Suits of the following classes shall, for the purpose of the Court-Fees Act, 1870, the Suits Valuation Act, 1887, and the Central Provinces Courts Act, 1917, be treated as if the subject matter of such suits were of the value of four hundred rupees :

(1) Suits for the restitution of conjugal rights, for declaration of the validity of marriage, or for a divorce;

(2) Suits for the custody of guardianship of a minor; and

(3) suits for a declaration that an adoption is valid or invalid;

Provided that if a suit for a declaration that an adoption is valid or invalid affects a title to property, then the value of that property, if it exceeds Rs. 400, shall be deemed to be the value of the subject-matter of the suit.

●

व्यवहारिक लैटिन सुक्तियाँ

1. Non in legendo sed in intelligendo leges consistunt.
   Laws consist not in being read but in being understood.
   विधि का ज्ञान पढ़ने से नहीं समझने से आता है।

2. Nemo Prasesens nisi intelligat.
   One is not present unless he understand.
   समझने के लिये केवल शरीर से नहीं मन से भी उपस्थित रहना है।

3. Lege tolum sievos scire totum.
   Read all if you would know all.
   समझने के लिये समग्र चिंतन।

4. Nocent expressa, non expressa non nocent.
   That which is expressed may injure; that which is not expressed cannot injure.
   मौनम् सर्वस्व साधनम्। मित भाषी बनों।
   ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोए।
   औरन को शीलत करे आप ही शीतल हो।।

5. Non omne Quod licet honestum est.
   Not everything which is permitted by law is honourable.
   विधि द्वारा बताई प्रत्येक बात करने योग्य हो ऐसी बात नहीं है। औचित्य पर भी विचार करना होता है।

6. Res Sacra non recipit aestimationem.
   A sacred thing does not admit of valuation.
   आस्था का धन में (पैसे में) मूल्यांकन नहीं होता है।

7. Nihil Culguam expedit Quod per leges non licet.
   Nothing contrary to law can be profitable to any one.
   विधि विरुद्ध कृत्य हितकर नहीं हो सकता।

OPINIONS AND VIEWS EXPRESSED IN THE MAGAZINE ARE OF THE WRITERS OF THE ARTICLES AND NOT-BINDING ON THE INSTITUTION AND FOR JUDICIAL PROCEEDING.